

तो यदि हमें समग्र कर्म को, अंतर्विरोध से मुक्त कर्म को जानना है—ऐसा कर्म जिसके चलते कार्यालय जाना भी ऐसा ही लगे जैसे कार्यालय न जाना या जैसे संन्यासी हो जाना, अथवा जैसे ध्यान लगाना, या फिर ऐसा लगे जैसे किसी सांझ आकाश को निहारना—तो भय से मुक्ति अनिवार्य है। ...अंत होने में ही भय का निर्मूलन संभव है—निर्मूलन अतीत का, बीते हुए का, क्योंकि यही वह माटी है जिसमें भय अपनी जड़ें जमाता है।

जे. कृष्णमूर्ति

जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

दिसंबर २०१०

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

वार्षिक शुल्क	: रु. १००.००
दो वर्ष	: रु. १७५.००
पांच वर्ष के लिए	: रु. ४००.००
आजीवन	: रु. १०००.००

संपादक : विजय छाबड़ा

इस अंक में :

जीवन एक कर्मभूमि
द्विभाषी उद्धरण
खंड दो
आप ही हैं संसार

पृष्ठ संख्या

४

बीच के पन्ने

२१

अनुवाद : भूमिका चावला, अचलेश चंद्र शर्मा

२ • जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

संपादकीय

जब मन सीख रहा है वहां चाह का, चयन का क्या काम? ज्यूं ही पसंद-नापसंद व चयन का खेल शुरू होता है, सीखने की प्रक्रिया में विराम लग जाता है। 'जो है' के साथ संस्पर्श में रह पाना, उसे देखना, उसे सूंघना, उसे निहारना, उसकी ध्वनि को, उसके संगीत को, उसके शोरगुल को सुनना क्यों इतना कठिन जान पड़ता है? अक्सर परिस्थिति को अपने हिसाब से बदलने का आग्रह क्यों रहता है? इस आग्रह का अर्थ ही है उसे सीधे-सीधे देख-समझ पाने में अक्षम होने का एहसास। तब हम क्या करें? अब देखिए, कैसे मन विपरीत की ओर दौड़ता है, किसी निष्कर्ष पर पहुंचना चाहता है।

बस यही तो मन कर सकता है, इस छोर से उस छोर और उस छोर से इस छोर, बस ठहरना ही नहीं आता। थोड़ा ठहर जाना, हर अधूरेपन को नकार देना, इस मौतनुमा, खयालों में खोई ज़िंदगी के प्रति मर जाना। 'जो है' के साथ ज़रा ठहर क्यों नहीं पाते, हर अधूरेपन को नकार क्यों नहीं देते, इस जीवन यज्ञ में तमाम अवधारणाओं की आहुति क्यों नहीं दे पाते?

अहं की क्रिया-प्रतिक्रिया का अंत ही समग्र कर्म की शुरुआत है—ऐसी चुनौतीभरी ध्वनि सुनाई पड़ रही है, खंड दो में भी, जिसमें प्रस्तुत हैं पुपुल जयकर द्वारा कलमबद्ध कृष्णमूर्ति की जीवनी के कुछ अंश।

जीवन एक कर्मभूमि

यदि आप अनुमति दें तो आज मैं एक साथ कई विषयों पर बातचीत करना चाहूंगा। परंतु आगे बढ़ने से पहले, हमें यह तो जान ही लेना चाहिए कि असली आदान-प्रदान या संवाद हम किसे कहेंगे। जब हम इस तरह की वार्ताओं या सम्मेलनों में भाग लेते हैं, तब वास्तव में हम एक-दूसरे के साथ कई समस्याओं पर बातचीत या संवाद करने की कोशिश कर रहे होते हैं, ठीक? हम मात्र मतों या विचारों की बौद्धिक चीर-फाड़ नहीं कर रहे, न ही अपने और औरों के ज्ञान की तुलना कर रहे हैं, और न किसी दूसरे की कही बातों की व्याख्या कर रहे हैं—चाहे वह शंकराचार्य हो, बुद्ध हो, ईसामसीह हो या कोई और। बल्कि हम स्वयं अपनी सभी समस्याओं के मूल की खोजबीन कर रहे हैं। क्योंकि हम बेशुमार परेशानियों और समस्याओं के बोझ तले दबे हैं, हर तरफ़ उनसे घिरे हुए हैं, न केवल बाह्य स्तर पर, जैसे आर्थिक, सामाजिक, परिवेश-संबंधी समस्याएं, बल्कि आंतरिक स्तर पर भी; हमारे अंतः में कितने प्रतिवाद हैं—चाहे हम उनके प्रति सजग हों या नहीं—कितने ही अनसुलझे क्लेश हैं, कितनी ही समस्याएं हैं जो हमारे अंदर घर कर गई हैं। और हम साथ मिलकर उन्हीं समस्याओं पर बातचीत कर रहे हैं। हम किसी अन्य विषय, किसी अन्य उपाय, अन्य दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन, अन्य पद्धति इत्यादि को इन गंभीर और जटिल समस्याओं के साथ जोड़ नहीं रहे। वास्तव में हम जो कर रहे हैं वह है हमारे अस्तित्व की जटिल सृष्टि और प्रकृति पर से परदा हटाना और उसे गौर से देखना—अपने हृदय, अपने मन-मस्तिष्क, अपने कानों और आंखों, अपने पूरे अस्तित्व के साथ उनका अन्वेषण

करना, ताकि हम उनके सीधे संपर्क में आ सकें और इस तरह उन्हें सुलझा सकें।

अर्थात् आप लोग, जो वक्ता को सुनने आए हैं, आपको जो कहा जा रहा है केवल उसे ही नहीं सुनना, बल्कि उसे भी सुनना, देखना-समझना है, जो वास्तविकता है, जो वास्तव में मानव मन-मस्तिष्क में हो रहा है। क्योंकि बस यही एक शै है हमारे पास—मस्तिष्क, जो चाहे कितना ही छोटा और महत्त्वहीन है, कितना ही तुच्छ, अन्यायी और कटोर है। पर ले-देकर यही हमारी पूंजी है और हमें इसे समझना है, न कि इसे नकारना है, न ही यह कहना है कि वह मिथ्या है, न उसके परे जाने की बात करनी है। हमें इसे ही जानना है, समझना है—इसी को, जो हमारा जीवन है, जो हमारे पारस्परिक संबंधों का तानाबाना है।

और इसलिए सुनना ज़रूरी है, केवल वक्ता को ही नहीं बल्कि जीवन में होने वाली हर गति को, क्योंकि जीवन स्वयं पारस्परिक संबंधों का एक प्रवाह है। हमें इस प्रवाह, इस गति को सुनना है, हर रोज़, हर पल, हर क्षण; हमें बहुत ध्यानपूर्वक इसे सुनना है—उस पर टीका-टिप्पणी करने की कोशिश किए बिना, यह कहे बिना कि, 'यह सही है, यह ग़लत है, यह भला है और यह बुरा, ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं'; बल्कि केवल जीवन की इस असाधारण गतिमयता के मधुर संगीत को सुनना है। और सुनने की इस प्रक्रिया में ही हम इसे समझना आरंभ कर देते हैं।

अब जीवन कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो बाहर है, कुछ ऐसा जो हमारी आंखों के सामने से गुज़र रहा है और हम उसे बैठे देख रहे हैं। जीवन तो हमारे भीतर बहने वाला एक प्रवाह है, जिसका हम स्वयं एक हिस्सा हैं; यही है वह जिसे हमें समझना है, जिसका रहस्य खोलना है, जिसे ग्रहण करना है, प्रेम करना है, जिसके साथ बने रहना है; इसके संपूर्ण महत्त्व को हमें पूरी तरह सोख लेना है। अन्यथा हमारे मन-मस्तिष्क अत्यंत संकीर्ण

और सतही ही बने रहेंगे। हो सकता है कि आप बहुत ज्ञानी हों, संसार की समस्त धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन कर चुके हों और उनके उद्धरण देते हों, योगविद्या में माहिर हों, इस या उस जीवन-दर्शन की व्याख्या करते हों, अपने ज्ञान और विद्वता का ढिंडोरा पीटते फिरते हों; परंतु आपका मन-मस्तिष्क फिर भी क्षुद्र और तुच्छ ही है। और इस तुच्छता को ही हमें समझना है; और इस तुच्छता की समझ ही उसका तिरोहित होना है।

तो, आज जिन विषयों पर हम चर्चा करने जा रहे हैं वे हैं द्वंद्व—बाह्य और आंतरिक, दुःख और उसका अंत, व जीवन एक कर्मभूमि। इन्हीं विषयों की गहराई में हम आज उतरेंगे, यदि आपको मंजूर हो। जब वक्ता कुछ कह रहा है, तब आप भी उसमें भाग ले रहें हैं; आप केवल उसके शब्दों को सुन नहीं रहे, उसे स्वीकार या अस्वीकार नहीं कर रहे; हम इसमें बराबर शरीक हैं, इसमें साथ-साथ योगदान दे रहे हैं; आप उतनी ही मेहनत कर रहे हैं, उतनी ही गंभीरता और जीवंतता से इसमें शामिल हैं जितना कि वक्ता। और इस सारे उद्योग का अर्थ तभी है जब आप गंभीरता से इसमें भाग ले रहे हैं। किंतु यदि आप केवल वहां नीचे बैठे यूँही बातचीत का लुत्फ उठा रहे हैं या सिर्फ वही सुन रहे हैं जो आपके मतों और विश्वासों को सही ठहराता है आदि, तब आप केवल शब्दों, वाक्यों और वाक्यांशों के एक क्रम को सुन रहे हैं जिसका कोई महत्त्व नहीं है।

मनुष्य दो सौ हज़ार सालों से भी अधिक समय से दुःख और पीड़ा झेलता आया है—अर्थात् शारीरिक और मानसिक पीड़ा, बाह्य और आंतरिक पीड़ा। देखिए अपने आप को, स्वयं का ही अवलोकन कीजिए। पीड़ा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है; हम सभी दुःख भोग रहे हैं, मानवता दुःख झेल रही है। शारीरिक पीड़ा तो है, साथ ही मानसिक, आंतरिक पीड़ा भी है; और ऐसा प्रतीत होता है कि हम इसका समाधान ढूँढने में पूरी तरह नाकामयाब रहे हैं, हम स्वयं को इस दर्द से, इस व्यग्रता और

भय से, इस अंतर्विरोध से मुक्त नहीं कर पाए हैं। और जब तक आंतरिक स्तर पर हम इस अंतर्विरोध, द्वंद्व, दुःख और पीड़ा से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक एक ऐसे मन-मस्तिष्क का अस्तित्व संभव नहीं जो कि साफ-शुद्ध है, और जो इस शुद्धता और निर्दोषता के कारण स्थिर है। और केवल एक स्थिर मन ही रचनात्मक हो सकता है; केवल ऐसा मन-मस्तिष्क ही सत्य और उसके सृजन को समझ सकता है। सत्य कोई कल्पना नहीं है, बल्कि एक जीती-जागती हस्ती है, जो सतत् सृजनशील है।

हम 'सृजन' या 'रचना' शब्द का प्रयोग उसके गहनतम और विस्तीर्ण अर्थ में कर रहे हैं। यहां सृजन या रचना से हमारा तात्पर्य मात्र कविता करना, कोई किताब या लेख लिखना, या भाषण देना, या फिर कोई बाहरी क्रिया करना नहीं है।

अब, हमारा मनुष्य होने के नाते प्रयास, दुःख और कर्म से सरोकार है। ये सभी एक-दूसरे से संबंधित हैं। आप यह नहीं कह सकते, "मैं पहले प्रयास की समस्या को समझूंगा, फिर द्वंद्व की, और फिर दुःख-पीड़ा और कर्म की समस्या पर गौर करूंगा।" यह सभी आपस में जुड़े हुए हैं, और यदि आप एक समस्या को समझ लेते हैं तो अन्य समस्याओं की समझ अपने आप ही आने लगती है।

हमें यह साफ दिखायी पड़ता है कि हम द्वंद्व में जीते हैं; इसके लिए हमें किसी जीवन-दर्शन या विचारधारा में झांकने की ज़रूरत नहीं है यह एक सीधा-सादा तथ्य है। पर हमें यह समझ नहीं आता कि हम इस बारे में क्या करें। यदि हममें इतनी समझ, इतनी प्रज्ञा हो कि हम जान पाएं कि हमें इसका क्या करना है, तब हम इस परिस्थिति से अपने आप ही बाहर आ जाएंगे और द्वंद्व व दुःख-पीड़ा से मुक्त हो जाएंगे। तब हमारा कर्म-व्यवहार एक संपूर्ण, अखंड गति बन जाता है। यह विखंडित क्रिया न रह कर एक संपूर्ण कर्म होता है।

तो, द्वंद्व हमारे दैनिक जीवन का एक हिस्सा है। बचपन से लेकर मृत्यु तक हम हमेशा द्वंद्व से घिरे रहते हैं, खुद यातना सहते हैं और औरों को कष्ट देते हैं, अंतर्विरोध में जीते हैं। देह त्यागने तक यह समस्या, लगता है, बनी ही रहती है। चाहे पहुंचा हुआ साधू हो या दर-दर भटकता जोगी, व्यापारी हो या सत्ता और प्रभुत्व प्राप्त कोई व्यक्ति—हर मनुष्य द्वंद्व में जी रहा है।

क्या इस द्वंद्व से बाहर आने का कोई मार्ग है? क्या एक मनुष्य के लिए, आपके और मेरे जैसे किसी इंसान के लिए, द्वंद्व की इस वेदना से छुटकारा पाना संभव है? द्वंद्व जितना गहरा होता है उतनी ही तीव्रता से वह आपके व्यवहार, आपकी कला में स्वयं को व्यक्त करता है—जैसे आपकी लिखी बहुत अच्छी किताब में, आपके द्वारा रची किसी उत्तम कविता में। मान लीजिए आपमें संगीत की कला है, तो आपका संगीत आपके भीतर के द्वंद्व की अभिव्यक्ति बन जाता है। तो, द्वंद्व जितना बड़ा होगा, उतना ही अधिक तनाव पैदा करेगा। और यदि आपमें कोई कला है, तब उसके माध्यम से द्वंद्व की अभिव्यक्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है न कि उस द्वंद्व से मुक्त होना या उसे समझना। यदि आप ज़रा पढ़-लिख गए हैं, आप पुस्तकों से उद्धरण कर सकते हैं, तब आप मंच पर खड़े होकर भाषण दे सकते हैं, नेता या लेखक बन सकते हैं, जबकि आंतरिक स्तर पर आप गहरे द्वंद्व में डूबे हैं। आप इन सभी माध्यमों से पलायन करते हैं, या पलायन के कई अन्य मार्ग खोज निकालते हैं। परंतु आवश्यकता तो द्वंद्व से मुक्त होने की है। मुझे नहीं लगता कि हम द्वंद्व से मुक्त होने की ज़रूरत भी महसूस करते हैं या इसके आग्रह, इसकी महत्ता को देख पाते हैं।

जानते हैं, मुक्ति एक बहुत ही अद्भुत घटना है। यह किसी चीज़ से मुक्त होने जैसा नहीं है। यदि आप किसी चीज़ से, किसी बंधन से मुक्त होते हैं, तब वह मात्र एक प्रतिक्रिया है; वह वास्तव में मुक्त होना नहीं। कृपया इसे समझने की कोशिश

करें—बौद्धिक रूप से नहीं, बल्कि कदम-दर-कदम, स्वयं इसकी गहराई को छूते-परखते आगे बढ़िए। यदि मैं क्रोध से मुक्त हूँ, क्रोध से यह मुक्ति—अर्थात् अब कभी क्रोधित न होना—प्रतिरोध का ही एक रूप है, दमन और उदात्तीकरण का ही एक तरीका है, और इस कारण वास्तविक मुक्ति नहीं है। मुक्ति का अर्थ है : अपने से, स्वतः होने वाली मुक्ति, न कि किसी चीज़ या बंधन से मुक्ति।

तो, क्या इस द्वंद्व से मुक्त होना संभव है? द्वंद्व इसलिए है क्योंकि हम अंतर्विरोध के शिकार हैं—यह चाहिए, यह नहीं चाहिए; सुख और दुःख; आकांक्षाएं, अभिलाषाएं और वहीं यह जानने की भी कोशिश कि प्रेम क्या है। सत्ता और अधिकार की लालसा, ऊंचा दर्जा, ख्याति या कुख्याति पाने की चाह—इन में से कोई भी भावना स्नेह, प्रेम, करुणा, अच्छाई के साथ अस्तित्व में नहीं हो सकती; और इसलिए अंतर्विरोध बना ही रहता है। हम इस अंतर्विरोध से भलीभांति परिचित हैं, किंतु हम इसके अभ्यस्त हो जाते हैं। चूंकि हम इसके आदी हो जाते हैं, हमारा मन-मस्तिष्क मंद और निरुत्साहित हो जाता है। आप उस नदी की ओर देखिए। जब आप उसे पहली बार देखते हैं तब आप प्रसन्न हो उठते हैं, आप उसकी लहरों पर नृत्य करते प्रकाश को देखते हैं, उसकी तरंगों को, उस पर बिखरती किरणों की सुंदरता को, उसके प्रवाह को, तैरती मछलियों को देखते हैं; आप उस नदी की अद्भुत मौजों को, उसकी गति की पूर्णता को निहारते हैं। परंतु कुछ समय बाद जब आप फिर उसे देखते हैं, तब तक आप उसके आदी हो चुके होते हैं! आपकी स्मृति में वह पहले की छवि, वह पहली बार महसूस हुई प्रसन्नता बसी होती है, और अब चूंकि वह वहां बसी है आप उसके अभ्यस्त हो गए हैं। और जब आप उस नदी पर फिर नज़र डालते हैं, तब आप वह चाव, उस दृश्य के प्रति वह संवेदनशीलता खो चुके होते हैं।

इसी प्रकार हमें द्वंद्व में जीने की भी आदत हो गई है और

हमने उसे स्वीकार कर लिया है। मेरे विचार में यह मनुष्य द्वारा किए जा सकने वाले सबसे अधिक विनाशकारी कार्यों में से एक है : अर्थात् स्वीकार कर लेना, परिस्थिति के अनुकूल स्वयं को ढालते जाना। हम दरिद्रता को स्वीकार कर लेते हैं, सड़कों पर फैली गंदगी और मलिनता, भ्रष्टाचार, संसार में होने वाली कितनी ही भयंकर चीज़ें, इन सब को स्वीकार कर लेते हैं। हम मान लेते हैं यह कहते हुए कि, “अब क्या करें, स्थिति पहले ही से ऐसी थी और आगे भी यूँ ही बनी रहेगी”। और यह स्वीकृति कर्म को होने से रोकती है। स्वीकार कर लेना, परिस्थिति के अनुकूल बन जाना, उसके अभ्यस्त हो जाना, न केवल द्वंद्व को समझने में बाधा डालता है बल्कि मन-मस्तिष्क को मंद और सुस्त बना देता है। आप हमेशा से एक हिंदू रहे हैं और आगे भी हिंदू ही बने रहेंगे—या मुसलमान बने रहेंगे—तब तक, जब तक कि आप मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाते। आप इसके आदी हो जाते हैं और दिन-प्रतिदिन उसी ढर्रे में जीते चले जाते हैं, अस्तित्व की उसी लीक पर चलते चले जाते हैं, अपनी मृत्यु तक।

तो, द्वंद्व को समझ पाने में सबसे बड़ी कठिनाई है धीरे-धीरे द्वंद्व के आदी हो जाना, उसे सहन करते जाना; सबसे पहले हमें इसके प्रति सावधान होना होगा। जब आप दुःख-दर्द को अस्वीकार कर देते हैं, जब आप द्वंद्व को अस्वीकार कर देते हैं, तब आपके मन-मस्तिष्क में हलचल मच जाती है; उस अवस्था में आपका मन मौलिक प्रश्न उठा सकता है; तब आपका मन-मस्तिष्क केवल प्रश्न ही नहीं करता बल्कि एक तीव्र और गहन अवस्था में बना रहता है जब तक उसे इस समस्या से बाहर आने का मार्ग नहीं मिल जाता—इसका अर्थ यह नहीं है कि वह किसी विचारधारा या सिद्धांत की ओर भागने लगे या फिर जीवन ही से पलायन करने लगे; किसी पर्वत पर जाकर या गेरुए वस्त्र धारण कर बैठ जाए, आदि। जब आप उसे स्वीकार करने से इंकार करते हैं तब आपका मन सजग, तीक्ष्ण बन जाता

है, और इसलिए आप गवेषणा, खोजबीन कर सकते हैं, ढूँढ़ से बाहर आने का मार्ग ढूँढ़ सकते हैं। यह पहला सबक है जो हमें सीखना है।

देखिए, सीखना और ज्ञान एकत्र करना दो अलग-अलग बातें हैं। एक ऐसा मन-मस्तिष्क जो ज्ञान का ढेर इकट्ठा करने में लगा है—अनुभव के रूप में, स्मृति के रूप में जिसके अनुसार वह कार्य करता है—उसने सीखना बंद कर दिया है। सीखने का अर्थ है एक मन-मस्तिष्क जो निरंतर सीख रहा है, वास्तव में ग्रहण कर रहा है, मात्र एक भंडार खड़ा नहीं कर रहा। आशा है मेरी बात आप समझ रहे हैं। सीखना सदा नवीन है। मैं एक भाषा नहीं जानता, और मैं उसे सीख रहा हूँ; जिस क्षण मैं उसे सीख जाता हूँ, जो कि 'सीखने' शब्द का भूतकाल है, उस क्षण मैं सीखना बंद कर देता हूँ। आखिरकार, 'सीखना' तो सदैव वर्तमानकाल में ही होता है। कृपया इस बात को ध्यान से सुनिए। सीखना सदा क्रियाशील वर्तमान में संभव है—न कि 'मैंने सीख लिया है' या 'मुझे सीखना है'। ज्यों ही आप कहते हैं कि 'मैंने सीख लिया है' आपने उस जानकारी का संग्रह कर लिया है, और फिर उस जानकारी या ज्ञान के अनुसार आप क्रिया करते हैं। अर्थात् तब व्यवहार संस्कारबद्ध करने वाले ज्ञान के अनुरूप होता है। किंतु जब सीखना क्रियाशील वर्तमानकाल में होता है—जिसका अर्थ है निरंतर सीखना, न कि 'मैं सीख चुका हूँ' या 'मैं सीखूँगा'—तब सीखना, अर्थात् वर्तमानकाल में क्रिया, सदा नूतन है; अतीत की परछाईं उस पर कभी नहीं होती, और इसीलिए वह अत्यंत क्रियाशील होता है। और इसलिए जो मन-मस्तिष्क निरंतर सीख रहा है वह स्वयं को पूर्णतः जीवंत बनाए रखता है और किसी भी परिस्थिति का नए सिरे से सामना करने में सक्षम होता है, क्योंकि वह सदा सीखने की प्रक्रिया में है।

तो, मनुष्य को अपनी आदत बनाने की प्रवृत्ति को, ढूँढ़ के आदी हो जाने के ढर्रे को वर्तमान में ही सीखना और समझना

है। अर्थात् एक मन जो हर पल सीख रहा है—जो क्रियाशील वर्तमान है—द्वंद्व का सामना कर सकता है, और इस तरह उसके बारे में जान सकता है, उसे समझ सकता है। जितनी समस्याएं होंगी, द्वंद्व भी उतना ही गहरा होगा; और हमें उनका सामना करना होगा, उन्हें पूरी तरह जानना-समझना होगा, जमा कर लिए गए अतीत को नहीं; सीखने की प्रक्रिया का जारी रहना अनिवार्य है। जो मन-मस्तिष्क लगातार सीख रहा है, कभी द्वंद्व का शिकार नहीं होता—इस तथ्य के सौंदर्य को तो देखिए! किंतु यदि मन में व्यवहार का, जीने के सलीके का एक पूर्वनिश्चित ढर्रा बन गया है, और उस ढर्रे को लादे मन वर्तमान के संपर्क में आता है—जो कि सदा क्रियाशील है—तब अंतर्विरोध पैदा होता है। और उस अंतर्विरोध से जन्म लेता है द्वंद्व। और जहां द्वंद्व है वहां अनवरत प्रयास है, हर वक्त भागादौड़ी लगी रहती है।

तो, हमें इस प्रक्रिया को समझना है कि मन-मस्तिष्क किसी भी चीज़ का आदी क्यों हो जाता है। आप सौंदर्य के आदी हो सकते हैं और कुरूपता के भी। मन-मस्तिष्क स्वयं को किसी भी परिस्थिति के अनुकूल बनाने में बहुत महिर है। आप युद्ध को स्वीकार कर लेते हैं; जैसे पश्चिम में यूरोप और अमेरिका ने युद्ध को जीवनशैली के ही रूप में स्वीकार कर लिया है। और ज्यों ही आप युद्ध को स्वीकार कर लेते हैं, आपके लिए वह एक सामान्य-सी बात हो जाती है, तब आप उसके आदी हो जाते हैं। फिर आप बनाते हैं फौजी सेवा, स्कूलों में फौजी प्रशिक्षण, सेनाएं—और जितनी बड़ी होंगी आपकी सेनाएं, उतनी ही दरिद्रता और गरीबी होगी आपके देश में; सारा चक्कर फिर शुरू हो जाएगा, और आप कहेंगे कि यह सब तो सामान्य बात है, अनिवार्य है! कृपया इस पर ध्यान दें। यह आपकी जिंदगी का सवाल है, मेरी जिंदगी का नहीं; यह आपकी रोज़मर्रा की जिंदगी की बात है।

जब मन-मस्तिष्क नूतन और ताज़ा नहीं, जब वह सीखने की प्रक्रिया में पूरी तरह शामिल नहीं, तब या तो आप दुःख और पीड़ा को पूजनीय बना देते हैं—जैसा कि ईसाई धर्म में होता है—या फिर आप उससे पलायन करने की कोशिश करते हैं, अथवा अतीत या पूर्वजन्म में उसका कारण ढूँढने लगते हैं। तब आपका मन-मस्तिष्क इस काबिल ही नहीं रहता कि वह यह पता लगा सके, यह समझ सके कि दुःख क्या है। और जब तक आप यह समझ नहीं पाते कि दुःख-पीड़ा क्या है आप उससे कभी मुक्त नहीं हो सकते। कृपया वक्ता के साथ इसकी गहराई में उतरिए, इसे स्वयं महसूस कीजिए। क्योंकि *दुःख में डूबे हुए मन में प्रज्ञा का वास नहीं हो सकता।* फिर वह चाहे कितना ही चतुर-चालाक क्यों न हो, कितना ही ज्ञानी क्यों न हो, उसकी जो भी क्षमता हो, पर एक दुःखी मन हमेशा परेशानी ही पैदा करता है। यदि समाज में व्यवस्था लानी है तो मानवजाति को दुःख से मुक्त होना ही होगा। और व्यवस्था की आवश्यकता तो है—खासी व्यवस्था की। क्योंकि जहां व्यवस्था है—जो तभी स्थापित की जा सकती है जब मनुष्य द्वंद्व से और इसलिए दुःख से भी मुक्त होता है—तब उस व्यवस्था से एक नये समाज, एक नयी जीवनशैली का सूर्योदय होता है।

अर्थात् दुःख का अंत होना संभव है। और आपके अलावा दूसरा कोई इसका मार्ग आपको नहीं बता सकता। कोई गुरु कहे कि दुःख का अंत हो सकता है और आप केवल उसकी बात दोहराते रहें, तो इसकी कोई मान्यता नहीं है। मान्यता इस बात की है कि आप स्वयं खोजबीन करें, दुःख और पीड़ा की पूरी संरचना को जान लें—अर्थात् अपनी हर दिन की गतिविधियों को, क्रियाओं को, संबंधों को ध्यानपूर्वक देखें। और इस अवलोकन से, सीखने की इस प्रक्रिया से, जो कि सदैव क्रियाशील वर्तमान में घटित होती है, आप स्वयं यह जान लेंगे कि दुःख का अंत संभव है। दुःख को तभी मिटाया जा सकता है जब

आप ग़ौर से देखते हैं; तब नहीं जब आप सिर्फ़ कहते रहते हैं कि, “मुझे दुःख का अंत करना ही होगा, दुःख को मिटना ही होगा”, और फिर उससे छुटकारा पाने की कोई तरतीब ढूँढ लेते हैं; इस तरह दुःख समाप्त नहीं होगा। दुःख को मिटाने के लिए आपको अपने हर कार्य को ध्यान से देखना होगा, जो कुछ भी आप करते हैं उसका अवलोकन करना होगा, न केवल घर-परिवार में बल्कि दफ़्तर में, कारखाने में काम करते समय, बस में सफर करते हुए; अपने बोलने का ढंग, आपके अंदाज़, हर चीज़ मायने रखती है। और इस अवलोकन से ही सीखने की प्रक्रिया आरंभ होती है।

एक सवाल और उठता है वह है कर्म-व्यवहार का। शायद आपने कभी ग़ौर किया हो, सुबह-सवेरे, दूर गगन में विचरण करते बड़े गिद्ध, विशाल पक्षी, बिना पंखों को हिलाए, हवा के बहाव के साथ उड़ते चले जाते हैं, एक मौन उड़ान में। यह है कर्म, गति। ऐसे ही मिट्टी में पनप रहे, खाना खाते कीड़े—यह भी क्रिया है। जब एक नेता मंच पर चढ़ता है और असल में कुछ नहीं कहता, या फिर जब कोई व्यक्ति लिखता है, पढ़ता है, संगमरमर का पुतला बनाता है, तब भी वहां क्रिया की जा रही होती है। और तब भी जब कोई आदमी, जिसका एक परिवार है, चालीस सालों से रोज़ दफ़्तर जाता है, वही घिसी-पिटी नौकरी करता है, रोज़ परिश्रम करता है बिना उस कार्य में आनंद लिए, पूरा जीवन अर्थहीन कार्यों में गंवा देता है। वैज्ञानिक, कलाकार, संगीतज्ञ, वक्ता, ये सब जो करते हैं वह भी ‘क्रिया’ ही है। वास्तव में जीवन आरंभ से लेकर अंत तक क्रिया ही है; यह संपूर्ण गति, यह प्रवाह ही क्रिया है। परंतु अफ़सोस कि हमने इसे खंडों में विभाजित कर दिया है: अच्छा कर्म, बुरा कर्म, राजनीतिक क्रिया, धार्मिक क्रिया, वैज्ञानिक क्रिया, समाज सुधारक द्वारा की जाने वाली क्रिया, समाजवादी या साम्यवादी लोगों की क्रिया, आदि। हमने क्रिया के टुकड़े कर दिए हैं, और इसीलिए दो

क्रियाओं के बीच विरोध होता है, और क्रिया की संपूर्ण गतिमयता की समझ हममें नहीं है।

और हमारी अपनी जिंदगी में भी, घर में की जाने वाली क्रिया आपके दफ़्तर में की जाने वाली क्रिया से कुछ खास अलग नहीं है। दफ़्तर में भी आप उतने ही महत्त्वाकांक्षी होते हैं जितने कि घर में। घर के अंदर आप रोब झाड़ते हैं, दूसरों पर हावी होते हैं, नुक्स निकालते रहते हैं, दबाव डालते हैं—यौन-संबंध के माध्यम से या कितने ही और तरीकों से। यही सब आप घर के बाहर भी करते हैं। मन की एक क्रिया ऐसी भी है जो शांति की खोज में लगी होती है, जो कहती है, “मुझे सत्य की खोज करनी होगी”। ऐसा मन-मस्तिष्क भी क्रिया कर रहा है।

प्रज्ञा का अर्थ है कर्म को उसकी संपूर्णता में समझना, खंडों में नहीं; उसे एक अविभाजित, अखंडित सत्ता की तरह देखना। मैं प्रज्ञा की परिभाषा नहीं दे रहा हूँ; तो इसे किसी परिभाषा की तरह रट न लें, या कोई अन्य परिभाषा न सीख लें। आप स्वयं देख सकते हैं कि जब तक क्रिया विखंडित है, तब तक अंतर्विरोध और द्वंद्व बने ही रहेंगे।

अब प्रश्न यह है कि क्रियाशील वर्तमान को कैसे खोजें, उसे कैसे महसूस करें या उसमें कैसे जीएं; कैसे जीएं एक ऐसी क्रिया में जो संपूर्ण है, पूरी है, अधूरी नहीं? क्या मेरा प्रश्न आप समझ पा रहे हैं? इस प्रश्न को समझना ज़रूरी है क्योंकि हमारी क्रियाएं खंडों में बंट गई हैं—धार्मिक, व्यावसायिक, राजनीतिक, पारिवारिक, इत्यादि; हर क्रिया अलग है, कम से कम हमारे मस्तिष्क में तो यही बात बैठी हुई है। और इसलिए दुनियादारी वाला इंसान कहता है, “मैं धार्मिक नहीं बन सकता क्योंकि मुझे तो रोज़ी-रोटी कमाना है”। और एक धर्मनिष्ठ कहता है, “ईश्वर की प्राप्ति के लिए आपको दुनियादारी छोड़नी होगी”। इस तरह सब कुछ, हर क्रिया, एक दूसरे के विरोध में है। और इसका नतीजा होता है प्रयास, दुःख और पीड़ा, भय, रंज, आदि, आदि।

तो, क्या ऐसी क्रिया हो सकती है जो संपूर्ण है और जिसमें कोई विभाजन, कोई विखंडन नहीं, अर्थात् जो जीवन का ही रूप है, पूर्ण जीवन है? जब तक हम यह बात नहीं समझ लेते, तब तक हमारी हर क्रिया में अंतर्विरोध होगा। हम इसके बारे में कैसे जाने, कैसे सीखें? 'सीख लिया है' नहीं और न ही 'सीख लेंगे', बल्कि आज, अभी ऐसी क्रिया के बारे में 'सीखना' जो संपूर्ण है, खंडों में विभाजित नहीं है। ठीक? मैंने प्रश्न आपके सामने रख दिया है। यदि आप समस्या को समझ गए हैं तो हम आगे बढ़ सकते हैं।

एक ही ऐसी क्रिया है जो पूरी है, संपूर्ण है; वह है मृत्यु। ठीक? मृत्यु के विषय में कोई बहस, कोई दिमागी जुगत लगाना मायने नहीं रखता। इस बारे में आपका कोई मत नहीं हो सकता, धार्मिक पुस्तकों के उद्धरणों का कोई मोल नहीं होता, आप इससे भाग नहीं सकते, न ही इससे बच सकते हैं। आप मृत्यु से यह नहीं कह सकते, "मुझे एक दिन और जीने दो"। अर्थात् वहां एक संपूर्ण क्रिया होती है, जो है मृत्यु को प्राप्त होना—मरना।

अब, अधिकांश लोगों के लिए मृत्यु नकारात्मक है; मरना आत्महत्या करने जैसा है! और चूंकि हम मृत्यु के असामान्य स्वरूप को नहीं समझ पाए हैं, हम—चतुर, ज्ञानी लोग—जीवन को कुछ ऐसा बना देते हैं जिसका वास्तव में कोई अर्थ नहीं है। जीवन निरर्थक हो कर रह जाता है। क्या आपके जीवन का कोई अर्थ रह गया है? कृपया इसे देखने की कोशिश करें! क्या आपके जीवन का कोई अर्थ है—दफ़्तर जाना, रोज़ी-रोटी कमाना, परिवार का पालन-पोषण करना, यौन सुख भोगना, बड़ी गाड़ी में घूमना या छोटी गाड़ी में, या पैदल चलना? आपके लिए इस सब का क्या महत्त्व है—कोई किताब लिखना या नहीं लिखना, कोई छोटा-मोटा समाज-सुधार का कार्य करना, किसी संस्था का सदस्य बनना, आदि? क्या अर्थ है इस सब का? और जीवन के प्रश्न की जितनी गहराई में आप उतरेंगे, उसमें निहित दुःख और

यातना पर नज़र डालेंगे, उसका अर्थ और भी कम हो जाएगा। और कितने ही चतुर, ज्ञानी लोग व्यर्थ की, अर्थहीन किताबें लिखते हैं; अपनी निराशा से पीड़ित होकर वे जीवनदर्शन पर लिखते हैं, खुद ही कोई तर्कशास्त्र बना लेते हैं। किंतु हम यहां आत्महत्या की बात नहीं कर रहे हैं, हम निराशा से उत्पन्न क्रिया के बारे में नहीं कह रहे हैं। हम केवल इस ओर इशारा कर रहे हैं कि *मृत्यु ही एक ऐसी क्रिया है जो संपूर्ण है, पूरी है—जैसे प्रेम।* प्रेम भी एक संपूर्ण क्रिया है। प्रेम में कोई अंतर्विरोध नहीं होता। किंतु हमारा प्रेम तो ईर्ष्या, चिंता, अकेलेपन से घिरा रहता है; यह 'आपके प्रेम' के प्रति 'मेरा प्रेम' है, 'आपका परिवार' और 'मेरा परिवार', 'आपका कुटुम्ब' और 'मेरा कुटुम्ब' 'मेरा देश', 'उत्तर' और 'दक्षिण'। और फिर हम प्रेम की बात करते हैं; हमारा प्रेम तो एक अंतर्विरोध है।

अतः हमें मृत्यु को समझना होगा। और केवल मृत्यु को समझ पाने से आप जान पाएंगे कि प्रेम क्या है। या, यदि आप अंतर्विरोध की पूरी प्रकृति को समझ जाते हैं—जिसका आधार सुख लालसा है—तब आप प्रेम-रूपी संपूर्ण कर्म को समझ पाएंगे, क्योंकि प्रेम और मृत्यु दोनों साथ-साथ चलते हैं। आपको मृत्यु के इस असाधारण रहस्य को समझना ही होगा।

मेडीटेशन, अर्थात् ध्यान करने का अर्थ है मृत्यु और प्रेम को समझना। न कि नदी किनारे बैठ जाना, कुछ शब्द बड़बड़ाना; या अपने कमरे में मौन होकर, पद्मासन में बैठ जाना, निश्चित तरीके से श्वास भरना, मंत्रोच्चारण करना—यह सब तो आपको सम्मोहित कर देता है; यह ध्यान करना नहीं है। ध्यान करना जीवन को समझना है; जीवन जिसमें प्रेम है, मृत्यु है, दुःख और पीड़ा है—समझना, बौद्धिक स्तर पर नहीं, बल्कि उसके बारे में जानना, सीखना। मृत्यु और प्रेम की असाधारण प्रकृति को समझ लेना ही ध्यान है। और उसे समझने की कोई निश्चित पद्धति नहीं, कोई प्रणाली नहीं है, कोई दस्तूर नहीं है, क्योंकि यहां

हमारा संबंध सीखने से है। आप किसी पद्धति के द्वारा नहीं सीखते। आप समझे? पद्धति और सीखना दो विरुद्धार्थी बातें हैं। जैसा कि हमने पहले कहा, सीखना हमेशा क्रियाशील वर्तमानकाल में ही होता है—आप सीख रहे हैं। यदि आप कोई पद्धति या प्रणाली बना लेते हैं—पहला कदम यह, फिर दूसरा यह, और फिर तीसरा—तब आप सीख नहीं रहे हैं। तो, हमें मृत्यु के बारे में सीखना है, और इसके लिए हमें उस सबके प्रति मर जाना होगा जो हमने मनोवैज्ञानिक स्तर पर, हर दिन, हर पल जमा कर लिया है। आप समझे? हममें से अधिकांश लोगों के लिए दुःख-पीड़ा का अर्थ है सुख का अंत, अर्थात् मृत्यु। परंतु क्या आपने कभी भी कोशिश की है? बस मर जाने की—बिना किसी तर्क-वितर्क के, बिना फ़ायदा या नुकसान देखे, बिना यह कहे, “ज़रूर, क्यों नहीं?”, बिना उन बुद्धिमान, चालाक शब्दों के जिनकी आड़ लेकर हम खुद को बचाने की कोशिश करते हैं?

यह मरना स्वाभाविक होना चाहिए, सहजता से, अपने किसी भी विषयसुख के प्रति मर जाना—कोशिश कर के देखिए; कीजिए, बिना इसकी इच्छा किए, बिना किसी जद्दोजहद या मेहनत के, बिना विच्छेद के, बिना उसे लक्ष्य मान कर उस तक पहुंचने के अनगिनत मार्ग बनाए। आपने कभी देखा है, कैसे जाड़े के मौसम में, पेड़ों से पत्ते ज़मीन पर गिरते हैं और वे कितने रंगीन, सुंदर, चमकदार होते हैं; मृत्यु में भी वे उतने ही सुंदर होते हैं जितना कि जीवन में, हवा में फड़फड़ाते हुए, धूप में चमकते हुए। हम मनोवैज्ञानिक स्तर पर मरने की बात कर रहे हैं, न कि भौतिक स्तर पर—अपने कपड़ों के प्रति मर जाना, जिसका कोई अर्थ नहीं है; बस धोती धारण कर लेना, जिसका कोई महत्त्व नहीं है। आप उल्टी राह मत पकड़ लीजिए; सही ओर से शुरुआत कीजिए, जो है आपका अंतस; अपने अंदर उन विश्वासों और मान्यताओं के प्रति, अपने ज्ञान, अपनी छोटी-बड़ी आकांक्षाओं के प्रति, अपनी चालाकियों और धोखों के प्रति, सुखों

और दुःखों के प्रति मर जाइए; बस यूँ ही, सहजता से, स्वाभाविक रूप से—जैसा कि बुढ़ापे में आप करने ही वाले हैं। बिना मृत्यु की समझ के बुढ़ापा भी एक कष्टकर घटना है, एक विकृति है। और जब आप इस मृत्यु नामक सत्ता को समझ लेते हैं तब आप यह भी जान लेते हैं कि प्रेम क्या है। इस देश में तो हम जानते ही नहीं है कि प्रेम है क्या—अन्य देशों में भी कहां पता है! क्योंकि हमें सौंदर्य से भय लगता है—किसी पेड़ को देखना, नील गगन में विचरण करते पंछियों को देखना, किसी पुरुष, स्त्री या शिशु के सुंदर चेहरे को निहारना। हम तो अभ्यस्त हो गए हैं, हमने अपने परिवेश को यूँही ग्रहण कर लिया है, स्वीकार कर लिया है; कुछ बातें हमारी आदत बन गई हैं, जैसे कि एक धार्मिक इंसान को सौंदर्य के प्रति पूरी तरह असंवेदनशील होना चाहिए, क्योंकि उसके लिए सौंदर्य का अर्थ है स्त्री, वह इंद्रियबोध, वह एहसास, और इसलिए उससे बच कर रहना चाहिए। इस कारण आपका जीवन खाली है; आपका मस्तिष्क शब्दों से भरा हो सकता है, किंतु आपका हृदय वीरान है। और इसीलिए आप उन चीजों को होने देते हैं जो ऐसे किसी मन-मस्तिष्क को गवारा नहीं होगा जो सही अर्थों में धार्मिक है।

तो, जहां द्वंद्व की समझ होती है वहां दुःख का अंत हो जाता है। और दुःख का अंत ही संपूर्ण कर्म का आरंभ है। और संपूर्ण कर्म तभी संभव है जब आप मानसिक स्तर पर उन सभी चीजों के प्रति मर जाते हैं जिन्हें आपने अपने सुख और दुःख का कारण मान लिया है। और तब केवल प्रेम का ही अस्तित्व रह जाता है। यदि आपके पास यह नहीं है, तब आप चाहे जो कर लें, हिमालय के दस, सौ, चक्कर लगा लें, दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक चले जाएं, चाहे जो बदलाव ले जाएं, बाहर आने का कोई मार्ग आपको नहीं मिलेगा।

और जब आप यह समझ लेते हैं, तब आपका मन-मस्तिष्क असाधारण रूप से शांत हो जाता है। इस सब की समझ से

आता है अनुशासन—वह अनुशासन नहीं जो बाह्य या आंतरिक तौर पर जबरदस्ती लागू किया जाता है। और यह अनुशासन ही व्यवस्था है। और जब यह असामान्य जीवन, यह गत्यात्मक स्थिरता अस्तित्व में आते हैं, तब इस स्थिरता में होता है सृजन। इस रचना को आप चाहे जो नाम दें—करतार या कुता—क्या फर्क पड़ता है! किंतु जब तक हम मानव के नाते इसे नहीं अपनाते, तब तक संसार में व्यवस्था और शांति लाना संभव नहीं है। और शांति का होना आवश्यक है क्योंकि केवल शांति में ही अच्छाई और भलाई का पुष्प खिल सकता है।

वाराणसी, तीसरी वार्ता, २८ नवंबर १९६५

खंड दो

आप ही हैं संसार

बाद के वर्षों में कृष्णमूर्ति का अपने बारे में कहना था, “पूर्ण उद्बोधन भारत में १९४७ से १९४८ के बीच हुआ।” उन वर्षों के दौरान संप्रेषण के वे पांच ढंग, जो कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं का महत्त्वपूर्ण अंग थे, आकार ले रहे थे : जनसमारोह, परिसंवाद और चर्चाएं, व्यक्तिगत भेंटवार्ताएं, भ्रमण करते हुए या भोजन की मेज़ पर व्यक्त किए गए दिखने में सहज-संयोगवश निकले अंतर्दृष्टि के उद्गार, और मौन के, निशब्दता के पल। कृष्णमूर्ति अपने सहयोगियों और श्रोताओं को आत्मपरिचय की लहरों पर सवार कर रहे थे, “आरंभ-हीन स्वयं” की खोज और अन्वेषण की ऐसी यात्रा पर जो अपने बहाव में मन-मस्तिष्क की सीमाओं को पार कर जाती और बोध के नए आयाम खोल देती। यह एक गंभीर और कठिन शिक्षा थी, इसलिए नहीं कि वह ऊपरी त्याग और बलिदान की मांग करती है (हालांकि वास्तव में आडंबरहीनता और सम्यक् आचरण ही इसका आधार है), बल्कि इसलिए कि वह हर खूँटे, हर बैसाखी, हर रीति-रिवाज़, चाहे वे कितने ही सूक्ष्म क्यों न हों, के संपूर्ण परित्याग की बात करती है, उन्हें पूरी तरह नकार देने पर ज़ोर देती है। धार्मिक अन्वेषण के केंद्र में स्थापित चली आ रही गुरुओं-महात्माओं की महत्ता का खंडन कर डालना भारत जैसे देश में हर प्रकार की आध्यात्मिक सत्ता और शब्दप्रमाण को पूरी तरह नकार देने जैसा था; क्योंकि जहां, ईश्वरीय सत्य का उद्घाटन करने वाली कोई एक धार्मिक पुस्तक उपलब्ध नहीं है वहां गुरु ही दीक्षा देने वाला, आदेश देने वाला होता है, वही सत्य का द्वार खोलने वाला होता है।

सत्य और सत्य की खोज करने वाले के बीच किसी भी बिचौलिए की हस्ती से इंकार कर के कृष्णमूर्ति ने खोजबीन का सारा दायित्व खोज करने वाले पर डाल दिया था। सत्य को ढूंढने वालों को उनका संदेश था, “वास्तविकता आपके निकट है, आपको उसे खोजने की आवश्यकता नहीं है। ‘जो है’ वही सत्य है, और यही उसकी सुंदरता है।” परंतु उस अभिलाषी के लिए, जो आंतरिक स्तर पर अभी भी एक चेला, एक अनुयायी ही बना हुआ था, यह बात उलझाने और चौंकाने वाली थी, क्योंकि यहां कोई लक्ष्य नहीं था, कहीं पहुंचना नहीं था, किसी चोटी पर विजय नहीं पाना था। सत्य की इस खोज को जारी रखने के लिए कोई प्रलोभन उपस्थित नहीं था—न परमानंद या चकाचौंध करने वाले प्रकाश का आश्वासन दिलाने वाला कोई गुरु था, न ही दूरदृष्टि या सिद्धियां थीं, और न अतींद्रिय शक्तियां ही थीं; बल्कि यदि कोई अतींद्रिय आभास हो तो उनका ध्यानपूर्वक अवलोकन कर उन्हें एक किनारे रख देना था। यहां उद्देश्य केवल एक सजीव और क्रियाशील बोध को जागृत करना था: बाह्य जगत में मानव संबंधों और प्रकृति के साथ संबंध में विद्यमान तथ्य को देखना और सुनना; आंतरिक स्तर पर विचार और भावनाओं के माध्यम से व्यक्त होने वाले तथ्य का अवलोकन करना, जो कि मन-मस्तिष्क का वास्तविक सार है। यह नवीन और रूपांतरक बोध, जो सीधा-स्पष्ट और सरल था, स्व-ज्ञान का आगमन था, अर्थात् स्व को वैसे जानना-समझना जैसा कि “वह है”।

विचार का चेतना में उत्पन्न होते ही अवलोकन करना, और जब वह लुप्त होने लगे तो उसे पूंछ से पकड़े रखना, भागकर जाने न देना—यही विचार की प्रकृति में झांकना और उसे समझना है, और “जो है” उसका अवलोकन करना है। किंतु अपनी तीव्र गति के कारण “जो है” सदा परिवर्तनशील है, बदल रहा है, रूपांतरित हो रहा है, प्रवाहित हो रहा है। किंतु ऐसी सजगता जो उन इंद्रियों के माध्यम से आती है, जो एक

ढीले, बेजान मन के खूटे से बंधी है और अतीत में उपजे विचारों में उलझी है, उसमें इतनी ऊर्जा अथवा नमनीयता ही कहां कि वह वर्तमान की, “आज और अभी” की, खोज कर सके, उसके साथ बनी रह सके, और फिर उससे आने वाले बोध के अनुसार क्रिया कर सके। मनुष्य ने सदैव विचार की गति को बांधना चाहा है, उसे आकार देना चाहा है, अपनी हर क्रिया का भविष्य में प्रक्षेपण कर उसे “मैं ऐसा बनूंगा” का रूप दिया है और इस प्रकार वर्तमान में कर्म की गति को प्रवाहित नहीं होने दिया। कृष्णमूर्ति का प्रश्न था, “वह कौन है जो विचार को एक सांचे में ढालने या उसे बदलने का प्रयत्न करता है या उसे दिशा प्रदान करता है? विचार को हटा दीजिए, अब कहां है विचार करने वाला? यदि विचार करने वाला ही विचार है, तब वह कुछ कर नहीं सकता, वह विचार को बदल नहीं सकता। विचार का अंत तो अनिवार्य है।”

जब उनसे पूछा गया कि, “व्यक्ति स्वयं को कैसे पहचाने? अपने आप के बारे में जानने को है क्या? खोज आखिर किस लिए? शुरुआत कहां से की जाए?”, तब उन्होंने उत्तर दिया, “प्रश्न जितना जटिल होगा, उलझन उतनी ही प्रचंड होगी। ऐसे में उसका सामना करने की तरतीब एकदम सरल और निष्कपट हो। मनुष्य को रास्ता मालूम नहीं है, तो वह केवल इतना कर सकता है कि संघर्ष पर पूर्णविराम लगाए और जो भी साधन और ऊर्जा उसके पास हैं उनकी मदद से यह अवलोकन करे कि उसे क्या रोक रहा है। जो सीधे-सरल हैं, जिन्होंने दुःख और पीड़ा को महसूस किया है, जो वास्तव में सत्य की खोज में लगे हैं, उन्हीं से कोई उम्मीद की जा सकती है। ये सीधे-सरल लोग अपने गौण होने के एहसास तले इतना दबे होते हैं कि उन्हें अपनी मंशाओं की मज़बूती पर भी भरोसा नहीं होता”²। कई लोग उनके पास उपचार के लिए आते। कृष्णमूर्ति उनसे कहते, “एक समय था जब मैं उपचार किया करता था; किंतु मेरे विचार

Because we are afraid to be nothing, we are splintered up by many desires, each desire pulling in a different direction. That is why, if the mind is to know total, non-contradictory action—an action in which going to the office is the same as not going to the office, or the same as be-coming a sannyasi, or the same as meditation, or the same as look-ing at the skies of an evening—there must be freedom from fear. But there can be no freedom from fear unless you experience it, and you cannot experience fear as long as you find ways and means of escaping from it. Your God is a marvellous escape from fear. All your rituals, your books, your theories and beliefs, prevent you from actually experiencing it. You will find that only in ending is there a total cessation of fear—the ending of yesterday, of what has been, which is the soil in which fear sinks its roots. Then you will dis-cover that love and death and living are one and the same. The mind is free only when the accumulations of memory have dropped away. Creation is in ending, not in continuity. Only then is there the total action that is living, loving, and dying.

Living and Dying

चूँकि हम कुछ भी न रह जाने के प्रति भयभीत रहते हैं अतः अनेकानेक आकांक्षाएं हमारे भीतर घमासान मचाये रखती हैं, हर आकांक्षा हमें अपनी-अपनी दिशा में खींचती-घसीटती रहती है। तो यदि मन ने समग्र कर्म को, अंतर्विरोध से मुक्त कर्म को जानना है—ऐसा कर्म जिसके चलते कार्यालय जाना भी ऐसा ही लगे जैसे कार्यालय न जाना या जैसे संन्यासी हो जाना, अथवा जैसे ध्यान लगाना, या फिर ऐसा लगे जैसे किसी सांझ आकाश को निहारना—तो भय से मुक्ति अनिवार्य है। परंतु भय से आप तब तक लेशमात्र भी मुक्त नहीं हो सकते जब तक आप भय को अनुभूत न करें, इससे गुज़रें नहीं और ऐसा तब तक नहीं हो पाता जब तक आप इससे पलायन करने के मार्ग और साधन तलाश करते रहते हैं। आपका ईश्वर भी भय से एक अनूठा पलायन ही तो है। आपके सारे रीति-रिवाजों, आपके ग्रंथों, आपके सिद्धांतों और विश्वासों ने आपको इससे गुज़रने नहीं दिया है, इसे अनुभूत करने से वंचित रखा है। आप पायेंगे कि अंत होने में ही भय का निर्मूलन संभव है—निर्मूलन अतीत का, बीते हुए का, क्योंकि यही वह माटी है जिसमें भय अपनी जड़ें जमाता है। तब आप यह खोज लेंगे कि प्रेम, मृत्यु और जीना एक ही है, ये एक दूसरे से अलग नहीं हैं। मन मुक्त तभी हो पाता है जब स्मृति का अंबार परे फेंक दिया जाये। सृजन अंतता में है, निरंतरता में नहीं। केवल तभी वह समग्र कर्म घटित होता है जो जीना भी है, प्रेम करना भी और मरना भी।

जीवन और मृत्यु

में मन का, अपने अंतस की स्थिति का ईलाज करना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल शारीरिक रोगों से मुक्ति दिलाने पर ध्यान देने से आप प्रसिद्ध तो हो सकते हैं, बड़ी भीड़ इकट्ठी कर सकते हैं, किंतु यह सब मनुष्य को खुशी की ओर नहीं ले जाएगा।”^३

‘जीवन भाष्य भाग १’ में वह लिखते हैं : “हम एक बूढ़ा समाज हैं; हम कुछ भी पाने के लिए दर-दर भटकते हैं और होती वह हमारे समीप ही है। हमारे लिए सौंदर्य हमेशा वहां, कहीं दूर है, यहां नहीं है, सत्य हमारे घर अर्थात् हमारी रोज़मर्रा की जिंदगी में नहीं है, वह तो दूर किसी कोने में है। प्रभु की खोज में हम दुनिया के दूसरे छोर तक चले जाते हैं, परंतु घर में काम कर रहे सेवक की हमें ख़बर ही नहीं है; जीवन की सामान्य बातों को, दिन-प्रतिदिन के संघर्षों और सुखों को तो हम समझ नहीं पाते, फिर भी हम जीवन के गूढ़ और रहस्यपूर्ण पहलू को, उसके गुप्त आशय को समझने की बात करते हैं”।^४ कृष्णमूर्ति के जनवरी १९४८ में मुंबई जनसमारोहों का आयोजन रिड्ज रोड पर स्थित सर चुन्नीलाल मेहता के विशाल निवास स्थान में, उनके बागीचे में किया गया था। लाल-किनारेदार धोती, लंबा, साफ़-सुथरा सफ़ेद कुर्ता और एक अंगवस्त्रम पहने कृष्णमूर्ति ने मैदान में प्रवेश किया। अपने सैंडल उतार कर वह मंच पर चौकड़ी मार कर बैठ गए, पीठ सीधी और बिना किसी हरकत के। अपने सम्मुख कुछ ज़मीन पर और कुछ कुर्सियों पर बैठे पांच सौ लोगों पर उन्होंने निगाह डाली। उन लोगों में संन्यासी, पूर्व थियोसोफिस्ट, प्रोफ़ेसर, और कुछ गिने-चुने खादी टोपी पहने व्यक्ति शामिल थे। कुछ नौजवान भी वहां उपस्थित थे; किंतु सर चुन्नीलाल के मित्र, मुंबई के धनवान व्यापारी राजकुमार, वहां बड़ी तादाद में मौजूद थे। उन पहले के वर्षों में कृष्णमूर्ति धनवानों की कटु आलोचना करते थे। वह कहते थे, “आपको माया भी चाहिए और राम भी, यह संभव नहीं। असलीयत उस व्यक्ति के

लिए नहीं है जिसका हाथ दूसरे की जेब काट रहा है, अर्थात् जो शोषण कर रहा है और जिसका हृदय सांसारिक सुख-सुविधाओं में लिप्त है”।^५

कृष्णमूर्ति की नज़र उनके श्रोताओं को अवधान के एक संयुक्त क्षेत्र में खींच ले आती थी। किंतु कृष्णमूर्ति की नज़रों में उनके सामने कोई समूह नहीं बैठा होता था। कृष्णमूर्ति से उद्भूत होता सीधा संप्रेषण वहां उपस्थित हर एक महिला और पुरुष के साथ उनका संपर्क स्थापित कर देता था; हर व्यक्ति को यह महसूस होता था कि कृष्णमूर्ति केवल उसी से बात कर रहे हैं। उन पहले के वर्षों में कृष्णमूर्ति की भूमिका एक मित्र की थी, जो एक दुःखी मनुष्य का हाथ थाम उसके साथ चल रहा था और मन की, विचार और भावनाओं की अनेक गलियों से होकर उनकी गहराई तक ले जा रहा था। वह धीरे-धीरे, कदम-कदम आगे बढ़ते, असीम धैर्य के साथ, समस्या से परदा उठाते, उसका परीक्षण करते, उसे लेकर प्रश्न करते, तथ्य से पलायन करने का हर मार्ग बंद करते। दुःख और पीड़ा को, क्रोध को, भय को, अकेलेपन को ध्यानपूर्वक देखना सिखाते, ठीक उसी तरह जिस तरह व्यक्ति आईने में स्वयं को देखता है। विचारों के बीच के अंतराल में ठहरने की शिक्षा देते—एक विचार से दूसरे विचार तक पहुंचना; और इस प्रक्रिया में, अपने मूल, अपने स्रोत की ओर धकेले जाने पर विचार को अपने ही धरातल में विलुप्त होते देखना। वार्ताओं के समय कृष्णमूर्ति को न केवल उन लोगों का भान होता जो उनकी बात सुन रहे होते थे, बल्कि वह उनके आस-पास जो हो रहा है उसके प्रति भी सजग होते थे—चाहे वह पंछियों का कोलाहल हो, किसी पत्ते के गिरने की आहट हो, या दूर कहीं बजती बांसुरी के सुर।

उनकी सजगता में एक समकालीनता थी, संयुक्त रूप से देखने-सुनने की क्षमता जिसमें सब कुछ सम्मिलित था, चाहे वह बाह्य स्तर पर घटित हो रहा हो या अंतस् में, भीतर के किवाड़

खुले रहते, कुछ भी अनदेखा नहीं रहता, बल्कि मन-मस्तिष्क से प्रवाहित होता चलता, यानी कुछ भी अलग-थलग नहीं, कोई ध्यान बंटने का साधन नहीं, विघ्न नहीं। रह जाती केवल अस्तित्व की बहती धारा, “जो है” का निरंतर प्रवाह। कई लोग उनकी वार्ता पहली बार सुन रहे थे। उनकी शब्दावली पूरी तरह बदल चुकी थी। यहां तक कि संजीवा राव जैसे व्यक्ति, जो कई वर्षों से उनके साथ थे, कृष्णमूर्ति की बातें समझने में कठिनाई महसूस कर रहे थे। उनका कहना यूं तो सरल जान पड़ता था। “मैं वही कहूंगा ‘जो है’ और मैं ‘जो है’ उसकी गति, उसके बहाव के साथ ही रहूंगा”। फिर श्रोतागण से कहते, “मेरे शब्दों के पीछे मत जाईए, बल्कि आपके भीतर विचारों का जो जीवंत प्रवाह है उसकी गति के साथ बढ़िए”।^६ जीवन को “जैसा वह है” वैसे स्वीकार करना ही द्वंद्व की इति है। “तो ‘जो है’ उसे देख लेना ही ‘जो है’ उससे मुक्त होना है”।^७ शब्दों और विचारों के जंजाल में फंसे, कुछ बनने की होड़ में लगे कृष्णमूर्ति के सुनने वालों के मन-मस्तिष्क, जिन्होंने विचार कैसे काम करता है यह कभी सीधे-सीधे “देखा” नहीं था—उसका प्रवाह, उसकी जटिलता, और उसकी गति से पैदा होने वाला अवकाश-अंतराल—वह कृष्णमूर्ति के कहे को समझ पाने के लिए जूझ रहे थे। कृष्णमूर्ति प्रश्न करते, “क्या मैं जो कि अतीत का परिणाम हूं, क्या मैं समय के दायरे से बाहर आ सकता हूं?” “आप समय के दायरे से बाहर आ सकते हैं यदि आप ऐसा करने के लिए जी-जान से तत्पर हैं। तब आप कदम आगे बढ़ाते हैं—काल-क्रमिक स्तर पर नहीं बल्कि मनोवैज्ञानिक स्तर पर—उस कालहीन अस्तित्व की ओर”।^८

उन दिनों कृष्णजी शायद ही कभी “मैं”, अर्थात् स्व नामक सत्ता का सीधा सामना करने की बात कहते। उन्होंने यह प्रश्न कभी नहीं उठाया कि, “मैं कौन हूं”? बल्कि “मैं” विषय पर बात वह उसकी अंतर्वस्तु को नकारने के ज़रिए करते थे—अर्थात्

उन गुणों व लक्षणों को नकारते, जो जुड़ने पर “मैं” को जन्म देते हैं, उसे वास्तविकता प्रदान करते हैं। अस्वीकार करने की इस प्रक्रिया द्वारा, स्वभाव और लक्षणों के क्षय द्वारा विचार की इच्छाशक्ति का भी नाश हो जाता है जिसके माध्यम से “मैं” स्वयं को व्यक्त किया करता है और अपनी हस्ती बनाए रखता है। मनोवैज्ञानिक स्तर पर कुछ बनने की प्रक्रिया का बोध और फिर उसका अस्वीकार ही विचार, काल, और ‘मैं-सिद्धांत’ का अंत है। मन के स्वभाव को पहचानने, उसकी संरचना को देखने-समझने एवं मानव चेतना में कार्यरत शक्तियों के अवलोकन से कुछ प्रबोधन उजागर होते : मन और विचार का स्वभाव ही हमें सीमित करता है, बांधता है और यही हमारे बंधनों और दुःखों का कारण है। कृष्णमूर्ति के अनुसार अदल-बदल करने या रूपांतरण करने की हर कोशिश जो मात्र विषय या अर्थ के स्तर पर की जा रही है—अर्थात् विपरीतार्थ और द्वंद्व के क्षेत्र में होने वाली क्रिया—वह समस्या का पूर्ण समाधान नहीं है, और इन कोशिशों में मन की गहराईओं में दबी हुई असाधारण रूप से जटिल और मौलिक इच्छाओं और अंतःप्रेरणाओं को समझने और उनका सामना करने की क्षमता है ही नहीं।

मानवता की हर समस्या का अंत हो सकता है—उन आदर्शों के ज़रिए नहीं जो यह दावा करते हैं कि समय के साथ, धीरे-धीरे दुःख सुख में बदल जाएगा, लालच प्रेम में तबदील हो जाएगा, बल्कि जिस मिट्टी में दुःख और पीड़ा पनपते हैं उसके स्वरूप में आमूल परिवर्तन ला कर। अर्थात् यह परिवर्तन या बदलाव गुणों या परिमाण का नहीं, बल्कि मूल स्वरूप, संरचना और आयाम का है। वैसे भी, कृष्णमूर्ति की शिक्षाएं मानव समस्या का सामना करने के तौर-तरीके को मूलभूत रूप से बदलने का काम कर रही थीं। उनका सरोकार मानव चेतना के गर्भगृह में क्रांति लाने से था और एक नए विस्तार-विचार संबंध की खोज करना था—ताकि मन, जो देश-काल, कारण-परिणाम के सीधे,

रेखामय आयाम में कार्य करता है, स्वयं की ओर मुड़े, अपने आप को देखे जिससे इंद्रिय बोध में एक समकालीनता उत्पन्न हो। कार्यरत होने के साथ ही यह समकालीनता किसी भी स्वकेंद्रित सत्ता को नकार देती है। इसके प्रभाव से नयी क्षमताएं जागृत होती हैं, जांच-पड़ताल के नए तौर-तरीकों का उदय होता है, साथ ही नयी ऊर्जाएं प्रवाहित होती हैं, जो सभी सीमाओं और बंधनों को निरस्त कर देती हैं। कृष्णजी कहते थे, “केवल सत्य ही हर संस्कारबद्धता से पूर्ण मुक्ति दिला सकता है”। “सत्य के बोध के लिए पूर्ण अवधान का होना आवश्यक है। इसका अर्थ परेशानियों से मुंह मोड़ना या उन्हें नज़रंदाज़ करना नहीं है। वास्तव में विघ्न या परेशानी जैसी कोई चीज़ ही नहीं है, क्योंकि जीवन एक प्रवाह है, एक गति है, जिसे एक संपूर्ण प्रक्रिया की तरह समझने की आवश्यकता है”।^६ कृष्णमूर्ति ऐसे श्रोतागण को संबोधित कर रहे थे जिनमें शामिल व्यक्ति एक शतक से अंग्रेज़ी-भाषीय स्कूलों में पढ़े थे और जिनका पालन-पोषण लोकतंत्र के पश्चिमी आदर्शों के अनुसार हुआ था, जो सर्वजनीय मताधिकार और एक समानतावादी समाज स्थापित करने पर जोर देते थे। आने वाले समय में जिन सिद्धांतों के आधार पर भारतीय संविधान बनाया जाना था उनके चलते समाज के हर खंड में काफ़ी मंथन होना था। अल्पसुविधाप्राप्त-वर्ग धीरे-धीरे अपनी ताकत के प्रति सजग होता जा रहा था। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक वर्गीकरण में बहुत तेज़ी से बदलाव आया, वह पक्का होता चला गया। आने वाले वर्षों में परिस्थितियों का दबाव और बढ़ना था।

भारतीय मन-मस्तिष्क, जो सदियों से मिथक, चिह्नों और संकेतों, तथा “उस पार” के भाव से बंधा था, वह बीसवीं सदी के मध्य में उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के भारतीय सामाजिक-दार्शनिकों के सिद्धांतों द्वारा प्रभावित हो रहा था; जिस अंधविश्वास और अंधकार ने भारतीय मानसिकता को खोखला

कर दिया था, उसका विद्रोह करते हुए उन्होंने संस्कारों और रीति-रिवाजों में जकड़ी उन उपद्रवी, अशांत सदियों को छुपाने के लिए पश्चिमी संस्कारबद्धता का मुखौटा पहन लिया था। प्राचीन-पुरातन की शक्तियां और ऊर्जाएं, उस समय की प्रज्ञा और हिंसा, सभी निष्क्रिय और अनन्वेषित, अछूती पड़ी थीं। स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् लोग राजनितिक और धार्मिक नेताओं से मार्गदर्शन की उम्मीद करने लगे। आने वाले बदलावों की गति और उन विस्फोटक, अस्थिर ऊर्जाओं को वह समझ ही नहीं पा रहे थे, जो जल्द ही उनके परंपरागत जीवन और उनके मूल्यों को तितर-बितर कर देने वाली थीं। भारतीय समाज में बदलाव की मांग के चलते समाज के कुछ खंडों में “कुछ और भी” की भावना ज़ोर पकड़ रही थी। इस भावना का मूल उद्देश्य था धन-संपत्ति का पुनः बंटवारा। किंतु एक लोकतांत्रिक सामाजिक ढांचे में “कुछ और भी” को केवल अल्पसुविधाप्राप्त, दीन-वर्ग की जायज़ मांगों की पूर्ति तक सीमित नहीं किया जा सकता था, बल्कि उससे मानव स्थिति की भराई की जा रही थी। अनिवार्यतः इसका परिणाम यह हुआ कि अब तक जिन ताकतों, जिन प्रभावों को परंपरागत संबंधों के माध्यम से—जिनके अपने स्वार्थ साधन तो थे किंतु साथ ही अंतर्निहित दायित्व भी थे—नियंत्रण में रखा गया था उन्हें अब पूरी छूट मिल गई थी।

इसी के साथ जुड़ी थीं भारत की तेज़ी से बढ़ती आबादी और तकनीकी विकास के कारण आयी लोहे-तांबे आदि के सामान के उत्पादन में बढ़ोत्तरी व ऐसी अन्य समस्याएं। सांसारिक, भौतिक मान्यताओं और मूल्यों के प्रति प्रत्यक्ष होता रुख भारतीय समाज में, उसके आपसी संबंधों की रग-रग में समाता जा रहा था। समाज का नया धनवान खंड—ज़मीनदार और उद्योगपति—अर्थात् “पिछड़े वर्ग” के गर्भ से उभरते हुए ताकतवर गुट और तेज़ी से बढ़ता हुआ एक असामाजिक संगठन, धन-संपत्ति और सत्ता पाने की होड़ में लगा था। विश्वयुद्ध के पश्चात् पश्चिमी

देशों में भी अव्यवस्था और असमंजस की स्थिति बन गई थी। युद्ध ने भौतिक और वैज्ञानिक ज्ञान के विशाल स्रोत खोल दिए थे, और वह उद्योगतंत्रवादी, जो केवल विध्वंस की सामग्री तैयार करने के लिए प्रशिक्षित थे, अपनी कला को प्रयोग में लाने के नए मार्ग ढूंढने पर बाध्य हो गए थे। जल्द ही साइबर्नेटिक्स पूरी तरह विकसित होने जा रहा था और विभिन्न प्रकार के स्वचालित यंत्र आकार ले रहे थे। १९४० के दशक का अंत होते-होते इस बात की झलक मिल रही थी कि आगे क्या होने वाला है। भौतिक स्तर पर मानव मानो पूरी दुनिया अपनी मुट्ठी में कैद कर लेने को तैयार था—हर मुश्किल का हल मौजूद मालूम होता था। विश्वयुद्ध के पश्चात् की स्थिति का एक प्रमुख पहलू था युद्ध-हथियारों का उत्पादन और उपभोक्ता माल (कबाड़ का ढेर पैदा करने वाले देशों की विशेषता) व ऐसी शिल्पकृतियों की भरमार जिनका आगे चलकर कोई उपयोग नहीं था। इसके चलते तेज़ी से प्रचलित होते मनोरंजन उद्योग के विस्तार पर ज़ोर दिया जाने लगा था, जिसकी शिल्पकृतियां और यंत्र न केवल बाज़ारों पर छा रहे थे, बल्कि आदमियों, औरतों और बच्चों के दिलो-दिमाग में भी घर कर रहे थे, उन्हें अभिभूत कर रहे थे।

१९४७ में भारत पश्चिमी देशों और वहां शीघ्रता से होते तकनीकी विकास से अभी अछूता था। बंटवारे और उसके परिणामों के सदमे ने हर सोचने-समझने वाले इंसान की बुनियादों को हिला दिया था। किंतु यह मात्र ऊपरी शोक था जो भविष्य में आने वाले कोलाहल व उपद्रव की एक झलक देता था। एक पैगंबर की सी दूरदृष्टि रखने वाले कृष्णमूर्ति ने इस अशांति को पहले ही भांप लिया था। वह भारत के हालात को टटोल रहे थे, उसकी गइराई में उतर रहे थे, वहां के पुरुषों और महिलाओं के दिलो-दिमाग में झांक रहे थे, अवलोकन कर रहे थे, प्रश्न कर रहे थे, वहां के हालात का मुआयना कर रहे थे, मन और हृदय को खोखला कर देने वाली चिंताओं और द्वंद्वों का पता लगा रहे

थे। “यह घर जल रहा है”, वह आवेग-भरे शब्दों में अपने सुनने वालों से कहते—किंतु जो उन्हें सुन रहे होते थे उनमें वह आवेग, वह आग्रह नहीं था। कृष्णमूर्ति के इस भावपूर्ण सरोकार और व्यापक ग्रहण-बोध ने कई महत्त्वपूर्ण आभासों-अंतर्दृष्टियों को जन्म दिया था, जो उनकी शिक्षाओं का मुख्य पहलू थीं। मनुष्य—काल्पनिक या अस्पृश्य, अमूर्त रूप में नहीं, बल्कि उसके “में”, उसके स्व के रूप में जो उसके पारस्परिक संबंधों में विद्यमान रहता है—ही समाज और संसार का रचयिता है। “आप ही संसार हैं”—यह कथन उनकी शिक्षाओं का मूल सिद्धांत था। सामाजिक और राजनीतिक कार्य संसार में कभी कोई मूल परिवर्तन नहीं ला सकते, तब तक नहीं जब तक व्यक्ति अपने आप को मूल रूप से बदल नहीं लेता। कृष्णमूर्ति का कहना था, “समाज या संगठन मनुष्य को नहीं बदल सकते, बल्कि मनुष्य ही समाज को, उसकी संरचनाओं को बदलता है”।

जब उनसे यह पूछा जाता कि भला एक अकेला, बेबस व्यक्ति पूरे समाज और संसार को कैसे बदल सकता है, तब वह उत्तर देते कि जल-प्लावित गंगा^{१०} की धारा का स्रोत एक बूंद ही है। हर वह बड़ा, महान् कार्य जो मानवता में परिवर्तन लाया है किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज रहा है। व्यक्ति में मूलभूत परिवर्तन लाया नहीं जाता, वह कोई क्रमिक प्रक्रिया नहीं है। परिवर्तन और बदलाव तत्काल होते हैं, यह उसी क्षण घटित हो जाता है जब मनुष्य स्वयं को पारस्परिक संबंधों के दर्पण में देख लेता है—संबंध अन्य मनुष्यों के साथ, प्रकृति के साथ, स्वयं के साथ। संबंध विषय पर चर्चा करते समय कृष्णमूर्ति बहुत घनिष्ठ संबंधों का उदाहरण लिया करते थे : पति-पत्नी का संबंध; मालिक और नौकर का संबंध। हालांकि कृष्णमूर्ति के इस बात पर लगातार जोर देने से कि हमारे संबंध ढोंग और कपट की बुनियाद पर टिके हैं सुनने वालों को तकलीफ़ होती थी, किंतु जल्द ही उन्हें यह एहसास होना था कि कृष्णमूर्ति की बातों में,

उनकी समझ में सच्चाई है। कृष्णमूर्ति कहते थे कि जो हम देख रहे हैं उसे बदलने का या रूपांतरित करने का कोई प्रयास किए बिना “देखना” तभी संभव है जब देखने वाले की दिशा प्रदान करने की कोशिश का अंत हो जाए। यही तत्कालीन रूपांतरण है, अर्थात् समझ-बोध का जन्म-क्षण जिसके परिणामस्वरूप समाज में बदलाव आता है और एक नयी पीढ़ी का जन्म होता है।

वास्तविक परिवर्तन दक्षिणपंथियों या वामपंथियों द्वारा लाए गए किसी विद्रोह का परिणाम नहीं। बल्कि यह तो हमारे मूल्यों में आने वाली एक क्रांति है—ऐंद्रिक मूल्यों का विद्रोह कर, उनका परित्याग कर उन मूल्यों को अपना लेना है जो परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होते। परिवर्तन की तत्कालिकता की बात में ही निहित थी कृष्णमूर्ति की समय के विषय में समझ। वह यह मानते थे कि “अस्तित्व में आना” और “समाप्त होना” ही जीवन है; या यूँ कहें कि एक नन्ही कोपल का बरगद के विशाल पेड़ का रूप लेना, जो कि समय की सीधी गति है, जीवन-प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। हर पदार्थ में निहित ऊर्जा, जो समय के कमान-रूपी सिद्धांतों से बंधी है क्षयोन्मुख है—उसका क्षय होना ही है, उसे नष्ट होना ही है और उसका अंत निश्चित है। कृष्णमूर्ति कहा करते, “संसार में एक समय वह है जो घड़ी से बांधा जाता है और एक वह जो मन-मस्तिष्क में गतिमान होता है। समय जो स्वयं मन-मस्तिष्क है। हम इन दोनों में अकसर गड़बड़ी कर देते हैं। मनोवैज्ञानिक समय कुछ बनने की प्रक्रिया है।” यह समय जो कुछ बनना है, जो कहता है कि “मैं ऐसा बन जाऊंगा”, मिथ्या और भ्रम की उपज मात्र है और “मैं” का ही दूसरा रूप है; दोनों स्वचालित, स्वपोषित हैं, अपनी अज्ञानता द्वारा अपना अस्तित्व बनाए हुए, और इस प्रक्रिया में अपनी अंतर्निहित ऊर्जा को चेतना के रूप में जमा करते हुए। मनुष्य इस चेतना को अपनी इंद्रियों द्वारा ग्रहण करता है।

“मैं” जो कि मनोवैज्ञानिक समय का परिणाम है और जो

स्वयं को विचार के रूप में प्रदर्शित करता है स्वयं को परिवर्तित करने अथवा मुक्त करने की दिशा में कार्य नहीं कर सकता। केवल निषेधात्मक प्रक्रिया द्वारा, हर प्रकार के मनोवैज्ञानिक विचार के बोध और अस्वीकार द्वारा—अर्थात् “जो है” को “जो होना चाहिए” उसमें बदलने की चाह को समाप्त कर के—सीधे-स्पष्ट रूप से “जो है” का अवलोकन कर पाना और अपने चित्त से उत्पन्न हुए समय से मुक्ति पाना संभव है। अवलोकन और बोध की इस स्थिति में मन स्वयं को सचेत करने के लिए विचार का सहारा नहीं ले रहा। वहां न तो विचारकर्ता है न ही विचार, न अनुभवकर्ता है और न अनुभव। मन जो ‘कुछ होने’ के चक्रव्यूह में फंसा है वह समय की उपज है, जो परिवर्तित हो चुका है। इस प्रक्रिया द्वारा, अर्थात् झूठ के उभरने के साथ ही उसे नकार देने से, उस महान् सत्य का सूर्योदय होता है जो कहता है कि तथ्य के सीधे-स्पष्ट अवलोकन द्वारा, उसे सीधे रूप से देखने और सुनने से—जिसका अर्थ है निर्दोषता के साथ, सरलता से, बिना विचार द्वारा तथ्य को बदलने या रूपांतरित करने की चेष्टा किए, जब विचार और इच्छाशक्ति जिनका मूल घृणा, क्रोध, लालच, भय आदि है शांत हैं, गतिहीन हैं—मन की वह अवस्था विसर्जित हो जाती है। इस सत्य का उदय पदार्थ की प्रकृति में ही परिवर्तन ले आता है और क्रोध या भय जैसी मानसिक अवस्थाओं में कैद ऊर्जा मुक्त हो जाती है—वह ऊर्जा जो समय या काल से अछूती है और इसी कारण उसके सिद्धांतों से भी परे है। इस अवस्था का घृणा, क्रोध या भय से कोई वास्ता नहीं है, और न ही यह इन अवस्थाओं का विपरीत है।

किसी भी समस्या को उसकी विपरीतार्थक स्थिति के अर्थों में बयान करना, उस स्थिति को आदर्शस्वरूप की तरह प्रस्तुत करना, विचार का एक खेल है जो वह अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए खेलता है; आखिरकार वह आदर्श, वह उच्चतम

संकल्पना भी तो अपने ही प्रतिरूप, अपने ही विपरीत का बीज लिए हुए है। केवल एक पूर्ण, अखंडित बोध ही दृष्टा और दृश्य दोनों को नकार सकता है, उनके बीच अंतर को समाप्त कर सकता है। “जो है” उसे देख-समझ लेना ही उसे रूपांतरित कर देता है। विचार मन-मस्तिष्क को हृदय से पृथक् करता है। मन-मस्तिष्क, जिसका आधार ही स्वार्थ की पूर्ति है, भौतिक मूल्यों के महत्त्व को बढ़ाने की बात करता है और मनुष्य का परिपोषण करने वाले, उसे ऊर्जा प्रदान करने वाले भावों और प्रत्युत्तरों को धीरे-धीरे गहरी नींद सुला देता है। प्रेम को नकारना मनुष्य की विनाशकर प्रवृत्ति है। मानवता का पुष्पित होना तभी संभव है जब मन-मस्तिष्क हृदय में स्थापित हो जाएं व स्वार्थपूर्ण-स्वर्केन्द्रित गतिविधि को पूरी तरह से नकार दिया जाए। मन-मस्तिष्क के रहस्यों पर से परदा हटाना और परिस्थितियों की समझ-बूझ कृष्णमूर्ति के लिए स्वाभाविक सी बात थी। इसलिए वह सरलता से, सहजता से द्वार खोल कर कह देते, “देखिए इसे। ले लीजिए। यह रहा आपके सामने, आखिर संकोच किस बात का है?”

जिन महीनों में कृष्णजी मुंबई में रह रहे थे, उन्हीं दिनों में संवाद-परिसंवाद उनकी शिक्षाओं को जांचने-परखने और उनकी गहराई में उतरने के मुख्य साधन के रूप में उभर कर आया। आगे चलकर आदान-प्रदान का यह साधन और भी सूक्ष्म, और भी गहरा और गूढ़ होता गया। शुरुआती वर्षों में यह चर्चाएं प्रश्नोत्तर-सभाओं के रूप में आयोजित होती थीं। जो सूक्ष्मता और मन की गहराइयों में सचेतन खोजबीन परिसंवाद में नज़र आती है वह इस प्रकार की सभाओं में दिखाई नहीं देती थी। पहले-पहल १९४८ में मुंबई में होने वाली चर्चाएं अव्यवस्थित और बिखरी हुईं सी थीं। कृष्णजी से कोई प्रश्न किया जाता। उनका सरल, सुलझा हुआ मस्तिष्क उस प्रश्न को ग्रहण कर उसे पलट देता, और वह प्रश्नकर्ता और उपस्थित सभाजनों से

आह्वान करते कि वे स्व-ज्ञान के क्षेत्र में आकर स्वयं प्रश्न का उत्तर खोजें। कृष्णमूर्ति धीरे-धीरे, हौले से बोलते थे, कई बार रुकते, सामने की ओर ज़रा झुक कर, मानो हर उत्तर पहली बार दिया जा रहा हो। वह अपने खुद के जवाबों को भी उतने ही खुलेपन और ग्रहणशीलता से सुनते जितना वह प्रश्न करने वाली की आवाज़ को सुनते थे। कृष्णजी के प्रत्युत्तरों की ऊर्जा उन मन-मस्तिष्कों तक पहुंचती जो अव्यवस्था और संभ्रम से जूझ रहे हैं, जो संस्कारबद्ध हैं रटे-रटाए जवाब देने और किसी महान् सत्ता या शब्द-प्रमाण के पास उत्तर ढूंढने के लिए—वह सत्ता चाहे आंतरिक हो या बाह्य, आध्यात्मिक हो या सांसारिक।

हमें कृष्णजी की बातें समझने में बेहद दिक्कत होती। हम उनके कहे शब्दों को समझने का यत्न करते और उन्हें अपने दिलोदिमाग पर लागू करने की कोशिश करते। हम इस प्रयास में लगे रहते कि उनके कहे के अभिप्राय का अनुमान लगा सकें, अन्वेषण के जो दो साधन हमें उपलब्ध थे—स्मृति और विचार—उनके माध्यम से शब्द के परे जा सकें। किंतु यही तो वे साधन थे जिन पर प्रश्नचिह्न लगाया जा रहा था, और इस कारण हम हैरान-परेशान थे। समझ तक पहुंचने की कड़ियां लापता थीं, और मन जो शब्दों के खूंटे से बंधा था वह निराशा और द्वंद का मैदान-ए-जंग बना हुआ था। कृष्णजी बार-बार “जो है” उसे देखने की बात कहते और उसे नहीं “जो होना चाहिए”, जो कि एक भ्रम है। वे इस पर जोर देते कि समाज को बदलने से पहले मनुष्य को स्वयं बदलना होगा, क्योंकि मनुष्य ही तो समाज है। वे स्मृति से मुक्त होने की बात करते—स्मृति जो वर्तमान की समझ को आने से रोकती है, उसे विकृत करती है, उसमें बाधा डालती है, स्मृति जो कि “मैं” अर्थात् हमारी चेतना है। साथ ही वह “कुछ होने” और “कुछ बनने” की हमारी प्रवृत्ति से स्वतंत्र होने को कहते। चर्चाओं में कृष्णजी तत्काल कोई भी उत्तर नहीं देते, वह सीधा-सरल जवाब देने से भी इंकार करते।

कृष्णमूर्ति के अनुसार एक मौलिक प्रश्न पर किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया उस प्रश्न की गहराई में जाने के हर प्रयास, हर अन्वेषण को समाप्त कर देती है। वह आग्रह करते थे कि स्वयं प्रश्न की जांच-पड़ताल की जाए, उसे गौर से देखा जाए और उसकी गहराई में उतरा जाए; बाहरी क्रिया-प्रतिक्रिया के विरोधाभासी स्तर पर नहीं, बल्कि प्रतिक्रियाओं की प्रकृति व भावों और जिस भूमि, जिस आधार से प्रश्न और उत्तर उत्पन्न हुए हैं उनका अवलोकन करके। कुछ देर धमना, गहनता से विचार करना, “सुनने” और “देखने” वाले ऐसे मन-मस्तिष्क को जन्म देता है जो बाह्य और आंतरिक में भेद के भ्रम को मिटा देता है, और ऐसी अवस्था को जागृत करता है जिसमें प्रश्न का सामना करने की क्षमता होती है।

ये चर्चाएं बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ती थीं। कृष्णमूर्ति एक विचार से दूसरे विचार तक जाते, कभी आगे ढकेलते हुए, कभी रोकते हुए, पीछे जाते हुए, अगले विषय पर बढ़ते हुए। मन-मस्तिष्क के अवलोकन की इस गति से, कदम-दर-कदम आगे बढ़ने की इस प्रक्रिया से, विचार-प्रक्रिया भी धीमी होती चली जाती, और बस तभी, चर्चाओं में भाग लेने वालों की प्रबोधन-क्षमता जागृत हो जाती और व्यक्ति की उस प्रत्यक्ष झलक का अपने मन-मस्तिष्क व उसकी अस्थिरता से संपर्क स्थापित हो जाता। मन-मस्तिष्क के इस “देखने” से खोजबीन की शुरुआत होती है। यही वह कड़ी है जो रहस्यों से परदा हटा देती है, सच का खुलासा कर देती है, और इस प्रक्रिया में प्रश्न और उत्तर दोनों प्रकाशमान हो जाते हैं। जो लोग कृष्णमूर्ति के साथ अन्वेषण कर रहे थे उन्हें चेतना की संरचना और उसकी प्रकृति और विचार-प्रक्रिया की अपार शक्ति और उसके लचीलेपन या अड़ियलपन का पता चल रहा था।

विचारों के जंजाल में उलझे मन की गति का अवलोकन करने में और उसकी कमी को, अपर्याप्तता को “देखने” में एक

जोश था, कुछ खोज निकालने का कौतूहल था, एक अनजानी राह चल पड़ने का रोमांच था। खूंटे से बंधा विचार अपनी बेड़ियां काटने में असमर्थ होता है। जिस पिटी-पिटाई लकीर पर विचार चलता है और जिस तरह 'कुछ बनने' की सारी प्रक्रिया शुरू होती है उस पर बातचीत और चर्चाओं द्वारा, उसे देखने से, उसका अवलोकन करने से, उसके अस्वीकार या विरोध द्वारा, उस पर प्रश्नचिह्न लगाने से उस ढर्रे को, उस प्रक्रिया को तोड़ा जा रहा था। देखने और सुनने की एक नयी प्रणाली का सूर्योदय हो रहा था, नए प्रबोधन जन्म ले रहे थे। अवलोकन और अन्वेषण का एक नया आधार स्थापित हो रहा था। प्रश्न के प्रभाव से उत्पन्न ऊर्जा को आत्मर्थक, यंत्रवत् उत्तरों और स्मृतियों के भंडार से उठने वाली प्रतिक्रियों द्वारा क्षय होने नहीं दिया जाता था। कृष्णमूर्ति अपने श्रोताओं के मन-मस्तिष्क को चुनौती देते थे। कृष्णमूर्ति के शरीर और मन की एक-एक कोशिका सजग थी। उनके निरंतर कठोर प्रश्न चित्त को जगा देते थे, उसे सचेत कर देते थे; और सुनने वालों की मांसपेशियों और स्वरो में शक्ति की लहर दौड़ जाती थी। दूसरी ओर स्वयं कृष्णमूर्ति का मन विषय में और गहराई से पैठ करता, उस पर फिर प्रश्नचिह्न लगाता। इस प्रश्न करने मात्र से मानव-परिस्थिति की असाधारण समझ उजागर होती। किसी ऐंटेना की तरह कृष्णमूर्ति का मस्तिष्क सभा में उपस्थित लोगों के मन-मस्तिष्कों को भांप लेता। जब कभी परिसंवाद घिसटने लगता या फिर सभाजन तर्क-वितर्क में लग जाते और चर्चा नीरस होने लगती, तभी कृष्णमूर्ति का मन छलांग लगाता और चर्चा को उस ढर्रे से बाहर ले आता। कृष्णमूर्ति प्रेम, मृत्यु, भय और दुःख जैसे विषयों, अर्थात् उन भावनाओं और परिस्थितियों को जिनका सरोकार हमारे तन और मन दोनों से है, चर्चा में शामिल कर देते; और फिर अचानक ही वह चर्चा समस्या के साथ सीधा, स्पर्शग्राह्य संपर्क स्थापित कर लेती।

इन चर्चाओं ने एक नया मोड़ तब लिया जब १९४८ की एक सुबह राव साहिब पटवर्धन ने कहा कि जिन आदर्शों और विश्वासों के सहारे वे राजनीतिक संघर्ष के मार्ग से गुज़रे थे, वही अब उनके लिए बेमानी हो गए थे। उनके सामने अब मानो एक खाली दीवार थी और उन्हें लगने लगा था कि अब समय आ गया है कि अपने बुनियादी मतों पर फिर से गौर किया जाए। फिर उन्होंने कृष्णजी की ओर देखा और उनसे पूछा कि “रचनात्मक विचार” से उनका क्या अभिप्राय है। कृष्णजी, जो कुछ देर से शांत बैठे राव साहिब की बातों को ध्यान से सुन रहे थे, अचानक उठ खड़े हुए और राव साहिब के पास आकर बैठ गए। थोड़ा आगे की ओर झुक कर बोले, “श्रीमान्, क्या आप वाकई इस विषय की गहराई में उतरना चाहते हैं, और देखना चाहते हैं कि क्या आप अभी, इसी समय रचनात्मक विचार की अवस्था का अनुभव नहीं कर सकते?” राव साहिब हैरान हो गए और कृष्णमूर्ति की ओर देखने लगे, वे उनकी बात समझ नहीं पा रहे थे। “व्यक्ति विचार कैसे करता है?”, कृष्णमूर्ति ने पूछा। राव साहिब ने उत्तर दिया, “जब भी कोई समस्या सामने आती है तब उसका समाधान ढूँढने के लिए विचार उत्पन्न होते हैं।” कृष्णमूर्ति ने प्रश्न किया, “आप किसी समस्या का समाधान कैसे ढूँढते हैं?” “प्रश्नों के उत्तर खोज कर”, राव साहिब ने कहा। “कैसे खोजेंगे आप उत्तर और यह कैसे पता लगाएंगे कि वह उत्तर सही है? यह तो तय है कि आप समस्या को उसकी पूर्णता में नहीं देख सकते—तो फिर आपके द्वारा खोजा गया उत्तर सही कैसे हो सकता है?” इस पर राव साहब बोले, “यदि पहली बार सही उत्तर नहीं मिला तब मैं उसे ढूँढने के अन्य उपाय करूंगा।” “किंतु उत्तर पाने का आप कोई भी रास्ता अपनाएं, आपका उत्तर अपूर्ण और अपर्याप्त रहेगा, और आप तो पूरा उत्तर चाहते हैं। तो आप एक संपूर्ण, अखंडित उत्तर कैसे खोजेंगे?”

कृष्णमूर्ति मन की सभी हरकतों पर रोक लगा रहे थे—

प्रश्न में निहित ऊर्जा को किसी भी हाल में क्षीण नहीं होने देना चाह रहे थे। राव साहिब ने जवाब दिया, “यदि मैं समस्या को पूरी तरह नहीं देख सकता हूँ, तो मैं सही उत्तर नहीं खोज सकता।” “तो अब आप उत्तर नहीं ढूँढ रहे।” “नहीं।” “आपने उत्तर की खोज के सभी मार्ग बंद कर दिए हैं।” “हां।” “आपका मन-मस्तिष्क जो अब उत्तर नहीं ढूँढ रहा है उसकी अवस्था क्या है?” मेरा अपना मस्तिष्क ही लगभग शून्य-सा था, परंतु यह वह बात नहीं थी जिसकी ओर वह इशारा कर रहे थे। हम कहीं न कहीं कुछ चूक रहे थे।² कुछ दिनों बाद एक चर्चा के दौरान कृष्णमूर्ति ने स्मृति को हमारी “मैं”-रूपी चेतना बतलाया, स्मृति जो वर्तमान की समझ को विकृत करती है, उसमें बाधा डालती है। उन्होंने वास्तविक स्मृति को मनोवैज्ञानिक स्मृति से अलग बताया—“मैं” ऐसा बचूंगा, “मुझे” ऐसा होना चाहिए। फिर उन्होंने पूछा, “क्या मनोवैज्ञानिक स्मृति के बिना जीना संभव है?” चर्चा धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी, और उसमें मेरी रुचि जाती रही। मेरा मन किसी इच्छा का पीछा करने निकल पड़ा। मैं जितना चर्चा के विषय पर ध्यान देते का प्रयास करती, मेरा मन उतना ही बेचैन होता। मैं इतना उकता गई कि मैंने अपने मन को रोकना छोड़ दिया, उसे भटकने दिया। जल्द ही मुझे एहसास हुआ कि मन शांत हो रहा था, स्थिर हो रहा था। और सुबह से पहली बार मैंने सुना कि वहां क्या कहा जा रहा था। चर्चा में अब एल्फिन्स्टोन कॉलेज के प्रोफेसर छुब्ब बोल रहे थे, और मैं सुन रही थी। क्या स्मृति को त्याग देना संभव है? मैंने स्वयं से यह प्रश्न किया। मैं “मैं” के सिद्धांत से मुक्त होना नहीं चाहती थी। आखिर कितनी मशक्कत, कितनी लगन से मैंने इसे खड़ा किया है; इससे मुक्त होने की ज़रूरत ही क्या है? यह छूट गया तो मैं कहां जाऊंगी, क्या करूंगी?

तभी एक उत्सुकता मन में पैदा हुई, यह पता लगाने की कि क्या स्मृति को नकारा जा सकता है। और तभी सब कुछ साफ़ हो

गया, एक तत्कालिक स्पष्टता। मैं मन को, उसकी गति को ध्यानपूर्वक देखने लगी। कृष्णमूर्ति कह रहे थे, “आप क्या कर सकते हैं, श्रीमन्? आपके सामने एक कोरी दीवार है। आप यूँ ही हाथ खड़े तो नहीं कर सकते, आपको कुछ न कुछ तो करना ही होगा।” उसी क्षण मेरे मुँह से निकला: “स्मृति को नकार दें।” और अचानक मेरा मन-मस्तिष्क आईने की तरह साफ़ हो गया। कृष्णमूर्ति ने सीधे मेरी ओर देखा। मन की स्पष्टता, उसकी पारदर्शिता और गहरी हो गई। “हां, आगे कहिए”, उन्होंने कहा। “जब आप स्मृति को नकार देते हैं, तब आपके मन-मस्तिष्क की अवस्था क्या होती है?” ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो वहां उपस्थित पचास लोग गायब हो गए हों, और वहां सिर्फ़ मैं और कृष्णमूर्ति मौजूद हों। “मेरा मन-मस्तिष्क शांत और स्थिर होता है”, मैंने कहा। और तभी मैंने उसे महसूस किया—एक गुण जो अति प्रबल था, अनाग्रही, स्फूर्तिमान और सजीव था। वह मुस्कुराए और बोले, “पकड़िए मत, छोड़िए उसे, धीरे-से आगे बढ़िए, उसे रौंधिए नहीं।” वहां मौजूद अन्य लोगों ने बीच में कुछ कहना चाहा ताकि वह उसे समझ सकें जो मैं महसूस कर रही थी, किंतु कृष्णमूर्ति ने कहा, “उसे और मत छोड़िए, रहने दीजिए, यह इतना नाजुक है, पकड़ कर उसका दम न निकालिए।” सभा समाप्ति पर वहां से जाते समय कृष्णमूर्ति मेरे साथ दरवाजे तक आए और मुझसे बोले, “आप मुझसे आकर ज़रूर मिलें, हमें इस विषय पर बात करनी चाहिए।” मुझे ऐसा लग रहा था मानो मेरा मन धुल कर साफ़ हो गया हो। जैसे-जैसे उस परिसंवाद के दौरान महसूस हुई तीव्रता व स्पष्टता प्रत्यक्ष हुई, हम और गहराई से चर्चा करने को उत्सुक होते चले गए। और जिस भी दिन कोई जनसमारोह का आयोजन नहीं होता, हम कृष्णमूर्ति से भेंट करते और चर्चा करते।

इन चर्चाओं में उठने वाले अधिकतर प्रश्नों का संबंध इस बात से होता कि एक अव्यवस्थित, कोलाहल-भरे समाज में कौन

से नैतिक कार्य अत्यावश्यक हैं। बाद में कहीं जाकर मनुष्य की मूलभूत समस्याएं—ईर्ष्या, आकांक्षा, भय, दुःख, मृत्यु, समय, और कुछ बनने की तीव्र लालसा, कुछ हासिल न कर पाने का गम—उभर कर सामने आईं और चर्चाओं में शामिल हुईं। कई वर्षों बाद कृष्णमूर्ति ने लिखा, “लगातार जोतने और बोनने के उपरांत निष्क्रिय रहना ही सृजन का उदय है।”³ जैसे-जैसे साल-दर-साल चर्चाएं होती गईं, उनमें कई प्रश्न पूछे गए, कई विश्लेषण-अन्वेषण हुए; कुछ मात्र परीक्षा के तौर पर और कुछ विषय की गहराई में उतर कर। हम बिना सीधे-सरल उत्तर की अपेक्षा लिए प्रश्न करते; बल्कि हम कदम-दर-कदम विचार की प्रक्रिया पर गौर करते, उसकी तहों को खुलते देखते—एक ओर गहराई में पैठ और दूसरी ओर कुछ दूरी से निरीक्षण; हर गतिविधि अवधान को मन की गुप्त खोहों में ले जाती। हमारे बीच एक सूक्ष्म, निःशब्द वार्तालाप होता; अस्वीकार की निषेधात्मक गति को विचार की विध्यात्मक गति से मिलते हुए स्पष्ट-रूप से देख पाते। हम तथ्य को “देख” पाते, “जो है” उसका अवलोकन कर पाते, और “जो है” में निहित ऊर्जा को निर्मुक्त होते देख पाते जो कि “जो है” का मूलभूत परिवर्तन ही है। इस अवलोकन के भी अलग-अलग पहलुओं पर प्रकाश डाला जाता ताकि उसकी मान्यता सिद्ध की जा सके। द्वैतवाद और अद्वैतवाद को सीधी-सरल भाषा में समझाया गया। प्रश्न करने, खोजबीन करने की उस अवस्था में—ऐसी अवस्था जिसमें प्रश्नकर्ता, अनुभवकर्ता का कोई वजूद नहीं है—“सत्य” का बोध तत्क्षण, तत्काल होता है। वह संपूर्ण अ-विचार की, अ-द्वैत की स्थिति थी।

चर्चा की समाप्ति पर हममें से कई लोगों को ऐसा महसूस हुआ मानो हमारा मन अभी-अभी नहाया-धोया हो। बाद में इन चर्चाओं के विषय में कृष्णमूर्ति का कहना था, “जो मन-मस्तिष्क निरंतर प्रवाह में है, जहां प्रवाह का कोई आकार, कोई ढांचा

नहीं है, जहां न 'मैं' है, न कोई कल्पना है, और न ही कोई छवि है, वह मन पूर्णतः शांत है। उस मन में स्मृति के लिए कोई स्थान नहीं। तब उस मन-मस्तिष्क की कोशिकाओं में एक परिवर्तन होता है। मन-मस्तिष्क की कोशिकाएं समय की गति की आदी हैं। वे समय का शेष हैं, वक्त की खुरचन हैं और वक्त एक गति है; एक ऐसी गति जो देश-स्थान के आयाम में प्रवाहित होती है और अपने प्रवाह से ही स्थान बनाती जाती है जहां यह गति, यह प्रवाह नहीं वहां असीम ऊर्जा केंद्रित होती है। अर्थात् यह परिवर्तन उस गति को समझना है, और मन-मस्तिष्क की कोशिकाओं में होने वाली गति का अंत है।⁹⁴ “जो है” के इस तत्कालिक मूलभूत परिवर्तन के उजागर होने से बौद्धिक और धार्मिक अन्वेषण को एक पूर्णतः नया आयाम मिल गया था।

कई वर्षों बाद मैंने कृष्णजी से कहा, “आपके साथ व्यक्तिगत रूप से चर्चा करते समय एक शून्यता, अनस्तित्व का बोध होता है। ऐसा लगता है मानो किसी पूर्णतः रिक्त हस्ती से सामना हो रहा हो। वहां कुछ भी नहीं होता सिवाय अपने ही भीतर प्रतिबिंबित होते ‘जो है’ के। आप व्यक्ति को ‘जो है’ वही वापस थमा देते हैं।” कृष्णमूर्ति ने उत्तर दिया, “आल्डस भी यही कहा करते थे। लेकिन जब कृष्णमूर्ति आपको कुछ वापस थमा देते हैं तब वह आपका हो जाता है।”

पुपुलजयकर द्वारा रचित 'कृष्णमूर्ति : एक जीवनी' से उद्धृत अध्याय 90

जगह के अभाव में पाद टिप्पणियों को यहां शामिल नहीं किया गया है।

हिंदी गैदरिंग, राजघाट 2010 पर रिपोर्ट (एक सहभागी की नज़र से)

इस वर्ष नवंबर माह में राजघाट में हिंदी गैदरिंग आयोजित की गयी जिसका विषय था : “सही कर्म की कसौटी क्या है”। सभी सहभागियों में विषय के प्रति उत्सुकता थी और सबके पास अपने-अपने प्रश्न और जिज्ञासाएं थीं जिनके सहयोग से कार्यक्रम की गति बनी रही। उपस्थित सहभागी दिन भर के कार्यक्रम के पश्चात् भी मुख्य विषय पर वार्तालाप करते दिखे। इस गोष्ठी में हम मिलकर चर्चा कर रहे थे कि सही कर्म क्या है; विचारजनित कर्म, स्मृति पर आधारित कर्म क्यों खंडित रहता है और प्रज्ञाजनित कर्म किसे कहेंगे। प्रश्नों पर गंभीरता से संवाद हुआ और उनकी तह में जाने का प्रयास रहा। पर उस माहौल से हटने पर चर्चा कभी-कभी उपहास, निंदा व टीका-टिप्पणी में बदलती दिखाई दी। चर्चा की गंभीरता क्यों फीकी पड़ जाती है? आखिर हम गैदरिंग में किस लिए आते हैं?

साथ होना और किसी उद्देश्य से साथ आना क्या दोनों अलग-अलग बातें नहीं हैं? जब कभी हम संगठित होना या कुछ लोगों को संगठित करना चाहते हैं, तो हमारे कर्म का आधार क्या रहता है? जो कुछ भी हम कर रहे हैं उसके लिये क्या हम पूरी तरह उत्तरदायी नहीं हैं? किसी भी तरह के विरोध में तो क्रिया-प्रतिक्रिया का ही खेल चलता है तो क्यों नहीं हम अपने विचारों व दिमागी हलचल को कुछ देर चुपचाप सुनते? क्या ऐसा नहीं लगता कि किसी भी घटना के होने या न होने में हम भी सहभागी हैं, जिम्मेदार हैं? हमारा कितना योगदान है किसी भी अव्यवस्था को आगे ले जाने में? जब तक हम स्वयं ही नहीं जानते कि संबंध में ही कर्म की सृष्टि है तब तक हम चाहे जितने भी तरह के प्रयास कर लें, हम जूझते ही रहेंगे।

गैदरिंग का समापन कुछ ऐसे ही प्रश्नों के साथ हुआ जिनमें यह निहित लगा कि हम अपने जीवन में होने वाली घटनाओं में अपने हिस्से के कर्मों का, अपने द्वारा होने वाले कर्मों का सतर्क अवलोकन करते रहें।

के.एफ.आई. वार्षिक गैदरिंग २०१०

महकती इमली के वृक्षों के साये तले और चारों तरफ फैले विशाल वरगद की भुजाओं में बसे ऋषिवैली स्कूल, चित्तूर में इस वर्ष के.एफ.आई. वार्षिक गैदरिंग संपन्न हुई। गैदरिंग का विषय 'WHO AM I IN A DIVIDED WORLD' था। गैदरिंग का प्रारंभ सुश्री राधिका जी के संभाषण एवं मुख्य विषय से हुआ, तत्पश्चात् आगामी दिनों के कार्यक्रमों की जानकारी दी गई। लगभग तीन सौ से ज़्यादा लोगों की भागीदारी ने इसे सफल बनाने में सहयोग दिया। चार दिन चलने वाली गैदरिंग में 'मनुष्य और प्रकृति', 'संस्थाओं के दायित्व' जैसे विषयों पर वार्तालाप एवं प्रश्न-उत्तर हुए। प्रतिदिन पहले सत्र में मुख्य विषय पर संबंधित वक्ता बोलते और बाद में छोटे-छोटे समूहों में लोग उन पर चिंतन-मनन करते थे। दूसरे सत्र में भोजनोपरांत श्रेष्ठिय भाषा के आधार पर समूहों का चयन करने की स्वतंत्रता थी जहाँ संवाद होते और सहभागी अपने विचार रखते थे। कार्यक्रम समय से प्रारंभ व अंत होते जिससे अतिथियों में भी सहयोग और अनुशासन के प्रति होश रहा और उन्होंने अपना पूर्ण भागीदारी दिखाई। आखिरी दिन हुए वार्तालाप और प्रश्नोत्तर जिसका विषय 'आप ही हैं विश्व' ने तो सभी का मन मोह लिया। गैदरिंग का समापन संस्था के सेक्रेटरी श्री एस.पी.के. कन्दारवामी जी के संभाषण से हुआ।

कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् १९६८ के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहायो, कैलीफोर्निया का है। सन् १९६८ के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति साहित्य

कृष्णमूर्ति की परिचयात्मक पुस्तकें :

१. ज्ञात से मुक्ति	रु. ३०.००
२. ध्यान	रु. ४०.००
३. हिंसा से परे	रु. ८०.००
४. गरुड़ की उड़ान	रु. ७०.००
५. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (सजिल्द द्विभाषी संस्करण)	रु. ५००.००
६. प्रथम और अन्तिम मुक्ति (पेपरबैक)	रु. १७५.००
७. आमूल क्रान्ति की आवश्यकता	रु. १००.००
८. अन्तिम वार्ताएँ	रु. ७०.००
९. आपको अपने जीवन में क्या करना है	रु. १७५.००
शिक्षा संबंधी पुस्तकें :	
१. शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य	रु. ६०.००
२. शिक्षा संवाद	रु. ८०.००
३. स्कूलों के नाम पत्र	रु. ६०.००
४. स्कूलों को पत्र भाग-२	रु. ४०.००
५. शिक्षा क्या है?	रु. १७५.००
६. संस्कृति का प्रश्न	रु. ५०.००
कृष्णमूर्ति का स्वयं का लेखन :	
१. जीवन भाष्य-I	रु. ७०.००
२. जीवन भाष्य-II	रु. १२०.००
३. जीवन भाष्य-III	रु. १४०.००
धीम बुक्स :	
१. जीवन और मृत्यु	रु. १२५.००
२. ईश्वर क्या है?	रु. १२५.००
३. ध्यान	रु. १२५.००
४. सोच क्या है?	रु. १२५.००
पुस्तिकाएँ :	
५. मृत्यु और उसके बाद	रु. ४०.००
६. वाशिंगटन वार्ताएँ	रु. २५.००
७. सुखी वही जो कुछ नहीं है	रु. २०.००
८. सीखने की कला	रु. १५.००
९. आन्तरिक प्रस्फुटन	रु. १०.००
१०. जीवन की पुस्तक	रु. १०.००
११. प्रेम : स्वयं से एक संलाप	रु. १०.००
१२. सत्य एक पथहीन भूमि है	रु. १०.००
१३. स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व एवं अनुशासन	रु. १०.००
१४. ध्यान में मन	रु. १०.००
१५. परम्परा जिसने अपनी आत्मा खो दी है	रु. ५.००
हिन्दी डी.वी.डी.	
“बुनियादी बदलाव : एक चुनौती”	रु. २००.००

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी-२२१००१

ईमेल: kcentrevns@gmail.com फोन: ०५४२-२४४१२८६, २४४०४५३

‘कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया’ के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एत-१/२०८ के-१, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी २२१ ००२ से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी २२१ ००१ (उ.प्र.) से प्रकाशित।

संपादक : विजय छाबड़ा

